I.S.S.N. 0975-6531

₹70/-

वैचारिकी

VAICHARIKI

मार्च-अप्रैल 2022 * भाग 38 - अंक 2

भारतीय विद्या मन्दिर

की

द्वैमासिक शोध-पत्रिका

• वैचारिकी •

मार्च-अप्रैल 2022 भाग 38 अंक 2

राजा रवि वर्मा

(29 अप्रैल 1848 - 2 अक्टूबर 1906)

महान भारतीय चित्रकार रवि वर्मा का जन्म केरल के किलिमानूर में और निधन तिरुवनंतपुरम् में हुआ। उनके नाम रवि वर्मा के आगे केरल की मरुमाक्काथायम प्रथानुसार उनके मामा का नाम 'राजा' जोड़ दिया गया था। राजा रवि वर्मा के पिता नीलकंठन एक पारंगत विद्वान थे तथा माता उमायाम्बा कवयित्री थी और काका राज राजा वर्मा कलाकार थे। 5 वर्ष की अल्पायु में ही घर की दीवारों पर चित्रकारी करने वाले राजा रवि वर्मा का विधिवत प्रशिक्षण ट्रावन्कोर के महाराजा अयिल्यम थिरूनल के संरक्षण में हुआ। फिर मदुरै में अभ्यास किया। उन्होंने रामा स्वामी नायडू से वाटर पेंटिंग व डच चित्रकार थिओडोर जैसन से आयल पेंटिंग का प्रशिक्षण लिया। साथ ही उन्होंने पारंपरिक तंजौर शैली का प्रशिक्षण लेकर यूरोपीय कला शैली का भी अध्ययन किया। इसीलिए उनके चित्र भारतीय परंपरा और यूरोपीय तकनीक के समन्वय के बेहतरीन उदाहरण हैं। अपने समय में चित्रकला के क्षेत्र में छा जाने वाले राजा रवि वर्मा के चित्र 1878 में विएना और 1893 में शिकागो की प्रदर्शनियों में प्रदर्शित हुए और पुरस्कृत भी हुए। 1904 में वाइसराय लार्ड कर्जन ने ब्रिटिश एम्परर की ओर से उन्हें कैसर-ए-हिन्द स्वर्णपदक प्रदान किया। राजा रवि वर्मा के पुराण-इतिहास से संबंधित प्रभावशाली दर्शनीय चित्रों ने उन्हें जनसाधारण में अत्यंत लोकप्रिय कर दिया। उस समय तक भारत में प्रिंटिंग प्रेस पर अखबार छपने लगे थे, परंतु संभवतया सर्वप्रथम राजा रवि वर्मा के चित्रों की प्रतियां मुद्रित होकर प्रकाशित हुई और घर-घर में पहुंची तथा पूजी भी जाने लगी। राजा रवि वर्मा को तैल माध्यम से सजीव पोर्ट्रेट (प्रतिकृति) बनाने में अद्‌भुत दक्षता प्राप्त थी जिससे विश्व में सर्वोत्कृष्ठ चित्रकार के रूप में उनकी पहचान बनी और आज भी उनका कोई शानी नहीं। मैसूर और बडोदरा के राजघरानों में राजा रवि वर्मा का बहुत सम्मान था। मैं अपनी मैसूर यात्रा में मैसूर महाराजा के उनके चित्रों का संग्रहालय देखने गया, कितनी ही देर मुग्ध हुआ देखता रहा। वडोदरा के लक्ष्मी पैलेस स्थित संग्रहालय में इस महान चित्रकार के चित्रों का बहुत बड़ा संग्रह है। सुप्रसिद्ध कला समीक्षक डॉ. आनन्द कुमारस्वामी द्वारा किए गए मूल्यांकन ने राजा रविवर्मा को कला जगत में विशेष प्रतिष्ठित किया। 2007 में इनकी एक पेंटिंग 1.24 मिलियन डालर में बिकी। वर्माजी हिन्दू देवियों के चित्र अक्सर दक्षिण भारतीय महिलाओं पर आधारित बनाते थे जिनमें दर्शाई गई साड़ियों की नकल पर सुसज्जित 40 लाख रुपये मूल्य की साड़ी 'लिम्का बुक ऑफ वर्ल्ड रिकार्ड' में दर्ज हुई। 2014 में राजा रवि वर्मा के जीवन पर केतन मेहता द्वारा निर्मित हिन्दी फिल्म 'रंग रसिया' (अंग्रेजी में 'कलर ऑफ पैशन्स') दर्शक को अभिभूत कर देती है।

- संपादक

वैचारिकी

भारतीय विद्या मन्दिर की द्वैमासिक शोध प्रधान पत्रिका

अध्यक्ष-प्रधान सम्पादक

डॉ. बिट्ठलदास मूंधड़ा

सम्पादक

डॉ. बाबूलाल शर्मा

प्रबंध सम्पादक

शंकरलाल सोमानी

ISSN 0975-6531

वैचारिकी

भाग : 38 अंक : 2

धर्म-दर्शन-विज्ञान, साहित्य-लोकसाहित्य, इतिहास-पुरातत्व, कला-लोककला

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग से मान्यता प्राप्त

मार्च-अप्रैल, 2022 ईस्वी ✷ फाल्गुन कृष्ण 14, वि. सं. 2078-79 से वैशाख कृष्ण 15, 2078-79 वि. सं. ✷ ₹ 70/-

अनुक्रम

- **अध्यक्षीय** 3
- **संपादकीय** 5
- **वैज्ञानिकों ने स्वीकारा अजर-अमर आत्मा का अस्तित्व**
  प्रमोद भार्गव 7
- **ब्राह्मण ग्रन्थ**
  प्रो. योगेश चन्द्र शर्मा 10
- **मनस्तत्त्व का उपनिषदीय विवेचन**
  डॉ. लक्ष्मी शुक्ला 16
- **नासदीयसूक्त के सात मंत्र एवं बाइबिल के सात दिन**
  डॉ. गोपाल शर्मा 23
- **मूर्ति पूजा : एक चिन्तन**
  डॉ. ए. बी. शिवाजी 27
- **भारतीय धर्म-दर्शन संस्कृति की विश्वव्यापकता**
  गोपाल जी गुप्त 37
- **आध्यात्मिकता : एक विमर्श**
  राकेश भारतीय 42
- **श्री राधा का लोकावतरण**
  मेवाराम कटारा 'पंक' 49
- **सत्य के अन्वेषी जे. कृष्णमूर्ति**
  डॉ. परशुराम शुक्ल विरही 57
- **धर्म तथा धर्मांतरण**
  डॉ. राजेश वर्मा 62
- **भक्त-कवि शंकरदेव की रहस्यानुभूति**
  प्रांजल कुमार नाथ 67
- **उत्तराखण्ड में शैव, वैष्णव और शाक्त देवी-देवताओं की पूजन परंपरा**
  पवनेश ठकुराठी 'पवन' 71
- **प्राणनाथ और निजानंद सम्प्रदाय**
  डॉ. मनीष गोहिल 75
- **चाँद सम्बन्धी विचित्र मान्यतायें और वास्तविकताएं**
  डॉ. शिवनन्दन कपूर 83
- **पाठक-मंच** 93

- प्रकाशित सामग्री के उपयोग हेतु लेखक-प्रकाशक की अनुमति आवश्यक।
- प्रकाशित लेखादि में अभिव्यक्त विचारों से प्रकाशक-सम्पादक का सहमत होना आवश्यक नहीं है।
- समस्त विवादों के लिए न्यायालय क्षेत्र कोलकाता।

कार्यालय

भारतीय विद्या मंदिर
12/1, नेली सेनगुप्ता सरणी
कोलकाता-700 087
दूरभाष : 033-71001614
मो. : 09830559364
ई-मेल : bvm.vaichariki@gmail.com
Website : www.bharatiyavidyamandir.org

सदस्यता शुल्क

वार्षिक 400/- रुपये
द्वैवार्षिक 800/- रुपये

भुगतान

Payee's Name:
BHARATIYA VIDYA MANDIR
Current A/c No. : 32030320176
Bank : STATE BANK OF INDIA
Branch: New Market
IFSC Code No. : SBIN0004662

अध्यक्षीय

दर्शन, धर्म, पंथ और विज्ञान बहुत चर्चित विषय हैं। दर्शन सृष्टि एवं उसके मूलभूत तत्वों का चिंतन है। धर्म चिंतन के आधार पर जीवन मूल्यों का निर्धारण करता है तथा अच्छा जीवन जीने के सिद्धांतों को प्रतिपादित करता है। इन मूल्यों को हम जीवन में धारण करते हैं। पंथ एक रास्ता है जो कि आचार्यों ने बताया है कि इस रास्ते से चलने से धर्म को धारण कर सकते हैं। विज्ञान तत्व-चिंतन की विवेचना करता है और केवल शास्त्रों पर आधरित न होकर भौतिक प्रमाणों के आधार पर इन्हें जानने की चेष्टा करता है। इस अंक में श्री भार्गव का आत्मा की अजर-अमरता अर्थात चेतना से संबंधित लेख, नासदीय सूक्त पर डॉ. गोपाल शर्मा का लेख तथा डॉ. लक्ष्मी शुक्ला का लेख द्रष्टव्य है। आधुनिक विज्ञान में हाल के वर्षों में विशेषतः पिछले 10 वर्षों में इस पर काफी विचार-विमर्श आरंभ हो रहा है। चेतना क्या है? कहां से आती है? क्या यह मस्तिष्क का गुण है या इसके बाहर उत्पन्न होती है? वैश्विक चेतना क्या है और इसका व्यक्ति चेतना से क्या संबंध है? इन सब विषयों पर बहुत विवेचन हो रहा है। बहुत-सी नई-नई स्थापनाएं आ रही हैं और वैज्ञानिक भारतीय अध्यात्मवाद की ओर आकर्षित हो रहे हैं।

करीब 1920 से एक नई धारा विज्ञान में प्रवाहित हुई जिसे क्वांटम फिजिक्स (कण भौतिकी) कहा जाता है। इसके जनक प्रो. श्रोडिन्गर (Schrodinger) थे। फिर क्वांटम भौतिकी में अन्य बहुत से विद्वान हुए - नेल्स बोहर (Neils Bohr), डॉ. आइंस्टाइन (Dr. Einstein) आदि। उन्होंने एक प्रयोग किया कि अगर एक इलेक्ट्रोन को सामने रखी हुई दो छिद्रों वाली स्क्रीन के ऊपर फेंका जाता है तो वह कभी एक छिद्र से निकलता है तो कभी दूसरे छिद्र से निकलता है और कभी दोनों छिद्रों से निकलता है अर्थात वह किस छिद्र से निकलेगा यह निश्चित करना असंभव है। प्रश्न उठा कि एक कण, इलेक्ट्रोन दो छिद्रों से कैसे निकल सकता है? फिर देखने को मिला और प्रयोग से सिद्ध हुआ कि यह कण भी है और सूक्ष्म तरंग भी है। इसका कण और तरंग दोनों होना कैसे संभव है? लेकिन क्वांटम भौतिकी में यह है। वस्तुतः यह निर्भर करता है प्रयोगकर्त्ता पर कि वह उसे किस तरह देखता है। मतलब कि उसका स्वरूप देखने वाले पर निर्भर है अर्थात देखने वाले का चैतन्य यह

स्थापित करता है कि वह कण है या तरंग। वह अगर कण के रूप में उस पर प्रयोग करे तो वह कण दिखेगा और तरंग के रूप में प्रयोग करे तो तरंग दिखेगा। यह डबल च्थ्त्द्य प्रयोग कहा जाता है। इसने भौतिक शास्त्र की धारणाओं में जो निश्चितता थी उसे हटा दिया।

इसी तरह का एक वैचारिक प्रयोग हुआ। एक बंद बॉक्स में एक बिल्ली है और उसमें एक कण भेजा जाता है जो बॉक्स में एक जगह जाकर टकराता है जिससे एक लीवर के द्वारा विष बिल्ली के मुंह में चला जाता है। अब प्रश्न था कि इस विष के कारण बिल्ली मर गयी या जिंदा है। इसका उत्तर जो आ रहा था वह विचित्र था कि वह जिन्दा भी हो सकती है और मरी भी हो सकती है तथा वह दोनों भी हो सकती है। सब-एटोमिक फिजिक्स में एक और बात ज्ञात हुई कि परमाणु में कुछ युग्म कण होते हैं। अगर एक कण में कुछ परिवर्तन होता है तो दूसरे के अंदर अपने आप ही परिवर्तन हो जाता है। अगर उन कणों को एक दूसरे से काफी दूर हटा दिया जाये तो भी यह होता है। अगर एक कण बाएं घूमेगा तो दूसरा कण भी बाएं घूमेगा, चाहे वे परस्पर कितनी ही दूरी पर हों। यह कैसे संभव है? प्रकाश की गति 1,86,000 मील प्रति सैकेण्ड है तब भी उसके एक बिन्दु से दूसरे बिन्दु तक जाने में कुछ समय लगता ही है लेकिन इन कणों के परस्पर प्रभावित होने में तो समय लगता ही नहीं है। तुरंत यह कैसे संभव है? हाँ, यह तभी संभव है जब ये दोनों कण किसी अदृश्य शक्ति से एक दूसरे से जुड़े हुए हों। वह अदृश्य शक्ति क्या है, यह अभी भी शोध का विषय है। आइंस्टीन ने कहा कि किसी भी पदार्थ या कण की गति प्रकाश की गति (1,86,000 मील प्रति सेकेण्ड) से ज्यादा नहीं हो सकती। लेकिन कुछ प्रयोगों में देखा गया कि पदार्थ या कण की गति इससे ज्यादा हो गई। यह क्यों हुआ? क्योंकि जो स्पेस था जिसमें कण गति कर रहा है, वह खुद ही सिकुड़ जाता है अर्थात स्पेस और टाइम खत्म हो जाते हैं। यह समस्या अभी तक भी विद्यमान है। यह समस्या कृष्ण गर्त (Black Hole) की भी है। ब्लैक होल में जाकर Time और Space दोनों लुप्त हो जाते हैं। इसके उत्तर में हाल के वर्षों में वाइवरेटिंग सुपरस्ट्रींग्स की बहुत चर्चा है। इसमें बहुत सूक्ष्म वाइवरेटिंग सुपरस्ट्रिंग से सारे पदार्थ, इनर्जी, स्पेस, गुरुत्वाकर्षण, इससे निर्मित होते हैं, इस पर अभी अनुसंधान हो रहे हैं। चेतना कहां से आई, इसका भी समुचित उत्तर वैज्ञानिकों के पास नहीं है। कहां से आई? कहां पर है? क्या पदार्थ चैतन्य है या नहीं? इसका निश्चित उत्तर नहीं मिल पाया है। यह प्रश्न जितना भौतिकशास्त्र के सामने है उतना ही दर्शनशास्त्र के सामने भी है।

सुनामधन्य स्टेफेन-हॉकिंग (Stephen Hawking) ने अपनी किताब A Brief History of Time में लिखा कि किसी समय महा विस्फोट (Big Bang) से विश्व की संरचना हुई। बिग बैंग से 16 आयाम (Dimension) निकले। उनमें से 10 आयाम तुरंत एक सूक्ष्म बिन्दु बन गये और शेष 6 आयामों से विश्व बना। 4 डाइमेंशन - लंबाई, चौड़ाई, ऊंचाई और समय ये तो हमारे रोज देखने में आते हैं। किंतु बाकी डायमेंशन क्या हैं, इसका समुचित उत्तर नहीं है। क्या चेतना डाइमेंशन है, मालूम नहीं है।

क्वांटम फिजिक्स के जनक महान वैज्ञानिक डॉ. श्रोडिन्गर (Schrodinger) वेदान्त की धारणा से काफी प्रभावित हुए थे। एटम बम के जनक डॉ. शोपेनहावर (Schopenhauer) गीता के गहन अध्येता थे। एटम बम की विभीषिका देखकर उन्होंने गीतापाठ शुरू कर दिया था। हमारे यहाँ अपनी परंपराओं से प्रेरित प्रो. जगदीशचन्द्र बसु ने वनस्पति में भी चेतना होती है, यह स्थापित किया। नासदीय सूत्र का गहन अध्ययन किया जा रहा है। हाल ही में प्रोफेसर सुभाष काक के कुछ शोध-पत्र प्रकाशित हुए हैं जिनमें उन्होंने इस विषय की गहन विवेचना की है। गॉड या ईश्वर क्या है? इस पर भी उन्होंने लिखा है। उनका मुख्य शोध-पत्र अंग्रेजी में है, इसमें

शेष पृष्ठ 89 पर ......

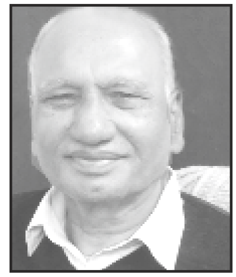

संपादकीय

भारतीय देवतावाद की सनातनता

वैचारिकी का यह अंक धर्मदर्शन पर केंद्रित है। सृष्टि में अपनी जैविकविशेषताओं-हाथों की स्वतंत्रता एवं विशिष्ट मनसतत्व अथवा विकसित मस्तिष्क के कारण मनुष्य ने दो तरह के आविष्कार किये, भौतिक तथा मानसिक। ये दोनों तरह के आविष्कार मनुष्य जीवन के विकास को सूचित करते हैं। भौतिक आविष्कार जीवन को सुरक्षित व अधिक सुविधापूर्ण बनाने एवं शक्ति अर्जित करने के उद्देश्य से किये गये। मानसिक अथवा चिंतनपरक आविष्कार धर्म-दर्शन है। धर्म उसका सर्वाधिक महत्वपूर्ण आविष्कार है। जिसे उसने अपना जीवन समर्पित कर दिया जो उसकी सम्पूर्ण जीवन पद्धति, संस्कृति का आधारभूत तत्त्व बन गया। इस क्रम में मनुष्य ने सबसे बड़ा आविष्कार किया--- देवता या ईश्वर का। उसने इसका होना, इसका रूप स्वरूप, यह क्या करता है इत्यादि सब तय किया और फिर अपने इस आविष्कार के पूरी तरह अधीन हो गया। विभिन्न मानव समूहों ने इसके अपने अलग-अलग नाम स्वरूप आदि माने और फिर इन नामों-स्वरूपों को लेकर परस्पर लड़ने भिड़ने, मार-काट भी करने लगे। देवतावाद की कल्पना विश्व भर में मनुष्य जीवन की प्रधान प्रवृत्ति है जो मनुष्य के जीवन-काल की ही नियामक नहीं, अपितु मृत्यु पश्चात के जीवन की भी कल्पना कर मनुष्य के आचरण, उसके विचारों-भावनाओं एवं व्यवहार को दण्डात्मक नियंत्रण में रखती है। इस आविष्कार का विरोध भी है कि देवता या ईश्वर जैसा कुछ नहीं है, जो है वह यह प्रकृति है जिसमें जीना है, बस जीओ और तुम्हारे कर्म की नैतिकता अथवा आत्मोत्थान ही धर्म है तथा किसी देवता या ईश्वर की उपासना धर्म नहीं है। भारतीय बहुदेवतावाद एवं कर्मकाण्ड प्रसिद्ध हैं। यह बहुदेवतावाद भारतीय संस्कृति के आधारभूत तत्वों-विविधता, सहिष्णुता आदि के मूल में है। इस बहुदेववाद से ही बाद में एक-देवतावाद का जन्म हुआ और कर्मवाद से ज्ञानवाद उत्पन्न हुआ। इसी से वेदों, ब्राह्मणग्रंथों के बाद आरण्यकों, उपनिषदों के समय अध्यात्मवाद बड़ी दार्शनिक उपलब्धि हुई।

भारतीय धार्मिक जीवन के दो समानांतर प्रवाह हैं-- वैदिक देवतावाद एवं लौकिक देवतावाद। लौकिक प्रवाह को पौराणिक भी कहा जाता है जो कई विद्वानों के मत में वैदिक से भी प्राचीन है। लौकिक देवतावाद के प्रारम्भिक स्वरूप और उसके बाद में हुए परिवर्तनों

को जानने में पुरातात्विक अवशेषों एवं अन्य ऐतिहासिक स्रोतों के साथ-साथ पौराणिक संदर्भों एवं जनश्रुतियों का महत्वपूर्ण योगदान है। पुरातात्विक एवं अन्य ऐतिहासिक साक्ष्य वैदिक देवतावाद के संबंध में उपलब्ध नहीं हैं, परन्तु वैदिक साहित्य में इस संबंध में विशद उल्लेख होने से हमें वैदिक देवताओं एवं उनसे संबंधित धार्मिकता के संबंध में एक क्रमिक जानकारी मिलती है। यहां हम लौकिक देवतावाद की भी चर्चा करेंगे, परन्तु पहले वैदिक देवतावाद पर एक दृष्टिपात कर लेने से भारतीय देवतावाद की रूपरेखा को समझ लेने में सुविधा रहेगी। महाभारत में वर्णित परंपरा के अनुसार अब से लगभग पांच हजार वर्ष पूर्व (अर्थात कलियुग के प्रारम्भ में) महर्षि वेदव्यास ने चार वैदिक संहिताओं का निर्माण किया था और इससे भी हजारों वर्ष पूर्व से और ईसा. पूर्व 6ठी-7वीं शताब्दियों तक भारतीय धार्मिक इतिहास में आर्यों के बहुदेववाद एवं यज्ञीय कार्मकांड का प्रभुत्व बना रहा।

आर्यों के मूल निवास स्थान को लेकर विवाद है। कई विद्वानों द्वारा दक्षिण रूस के मैदानी भागों से लेकर वर्तमान कज़ाकिस्तान, उज़्बेकिस्तान या पूर्व यूरोप जैसे अनेक भूभागों को इसके लिए चिह्नित किया जाता है, परन्तु ठोस प्रमाण कुछ भी नहीं हैं। कहा जाता है कि इन भूभागों में से ही कहीं से आकर आर्य भारत में बस गये थे, परन्तु भारत में रचित अथवा संकलित वैदिक साहित्य में आर्य जनजाति के कहीं बाहर से आकर भारत में बसने की स्मृति का उल्लेख नहीं है, जैसे कि बाइबिल के पूर्वार्द्ध में यहूदियों के बारे में कहा गया है कि वे मिस्र से आकर इजराइल में बसे थे। हाँ, वर्तमान में विभिन्न भूभागों में निवास करने वाले आर्यों द्वारा बोली जाने वाली भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन से उनमें ध्वनि, रूप, शब्द, वाक्य विन्यास आदि की दृष्टि से उनकी घनिष्ठ पारस्परिक समानता से इन भाषाओं को बोलने वालों का मूलतः किसी एक भूभाग में रहना प्रतिपादित होता है और इस कारण इन विभिन्न भाषाओं को भारोपीय परिवार की भाषायें कहा जाता है। तुलनात्मक भाषा विज्ञान के साथ-साथ तुलनात्मक देवशास्त्र भी उक्त मत का समर्थन करता है जिसमें विभिन्न भूभागों में प्रचलित देवोपासना में पारस्परिक समानता लक्षित होती है। प्रसंगवश यहां यह उल्लेखनीय है कि एशिया माइनर या तुर्किस्तान के बोगाज़-क्यूई नामक स्थान से प्राप्त 14वीं शती ई.पू. के मृत्फलक में वरुण, इंद्र, मित्र तथा नासत्या (अश्विनौ) देवताओं का हित्तिति और मितानी नामक जातियों के राजाओं में हुई संधि के साक्ष्य के रूप में उल्लेख है। प्राचीन धार्मिक एवं भाषायी समानता से वैदिक एवं ईरानी अथवा पारसी आर्य तो स्पष्ट रूप से किसी एक भूभाग के निवासियों के वंशज विदित होते हैं। जरथुस्त्र (10वीं शती ई.पू.) द्वारा रचित पारसी ग्रंथ अवेस्ता एवं वेद की भाषा एवं उनमें वर्णित देवताओं में तो अत्यधिक साम्य है। बहुत से विद्वान ज्योतिषीय प्रमाणों के आधार पर वैदिक आर्यों की ही एक शाखा के पश्चिमी भारत से जाकर ईरान में बसने का प्रतिपादन करते हैं। इस सबसे वैदिक देवतावाद की पृष्ठभूमि में भारोपीय कालीन देवताओं की चर्चा आवश्यक हो जाती है।

भारोपीय काल से ही देवता विषयक अवधारणा आकाश की दीप्तिमान अथवा प्रकाशमान शक्तियों से संबंधित थी, इसीसी देव शब्द दिव् धातु से बना है। भारोपीयकालीन देवताओं में सर्वप्रथम द्येउस् (Dyeus) या द्यौस् या द्यौः उल्लेखनीय है जो प्रकाश एवं आकाश की सर्वाच्छदाकता से संबंधित है। इसके बाद आकाश से संबंधित देवता वरुण है जो प्रकृति के नियमों का नियंता है। भारोपीय काल में सूर्य एक महत्वपूर्ण देवता के रूप में सामने आते हैं। अश्विनी अथवा नासत्या भी भारोपीय देवता है। भारोपीय परिवार की भाषाओं में अग्नि शब्द से संबंधित समानता से विदित होता है कि भारोपीय काल में अग्नि को भी देवता माना जाता था। भारत की तरह रोम और ईरान में भी अग्नि देवता स्तुत्य था। भारोपीय काल में पूजा या कर्मकाण्ड करवाने के लिए पुरोहित

शेष पृष्ठ 90 पर ......

वैज्ञानिकों ने स्वीकारा अजर-अमर आत्मा का अस्तित्व

प्रमोद भार्गव

'भगवत गीता' हजारों साल पहले से शरीर की काया में विद्यमान 'आत्मा' को अजरअमर मानती चली आ रही है। महाभारत युद्ध के दौरान भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को दिए उपदेश में आत्मा को कभी नष्ट नहीं होने वाला बीजतत्व माना है। अब इसी सनातन मान्यता को वैज्ञानिक समर्थन मिला है। भौतिकी और गणित के दो वैज्ञानिकों ने लंबे शोध के बाद निष्कर्ष निकाला है कि आत्मा मरती नहीं है, मात्र शरीर मरता है। मृत्यु के बाद आत्मा ब्रह्माण्ड में विचरण करने लगती है। इसमें अंतर्निहित स्मृति या सूचनाएं भी नष्ट नहीं होती हैं। भारतीय आध्यात्मिक दर्शन की यह भौतिकवादी व्याख्या ऑक्सफोर्ड विवि के गणित व भौतिकी के प्राध्यापक सर रोगर पेनरोज और एरीजोना विवि के भौतिक विज्ञानी डॉ स्टुअर्ट हामरॉफ ने निरंतर दो दशक अध्ययनरत रहने के बाद छह शोध-पत्रों के माध्यम से की है। इसी शोध के आधार पर अमेरिका के 'विज्ञान' चैनल ने एक डॉक्यूमेंट्री फिल्म भी बनाई है, जो जल्द ही प्रसारित होगी।

शोधकर्ताओं का कहना है कि मानव मस्तिष्क एक जैविक कंप्यूटर की भांति है। इस जैविक संगणक की पृष्ठभूमि में अभिकलन (प्रोग्रामिंग) आत्मा या चेतना है जो दिमाग के भीतर उपलब्ध एक कणीय (क्वांटम) कंप्यूटर के माध्यम से संचालित होती है। क्वांटम कंप्यूटर से तात्पर्य मस्तिष्क के कोशिकाओं में स्थित उन सूक्ष्म नलिकाओं से है, जो प्रोटीन आधारित अणुओं से निर्मित है। बड़ी संख्या में ऊर्जा के सूक्ष्म स्रोत-अणु मिलकर एक क्वांटम क्षेत्र तैयार करते हैं, जिसका वास्तविक रूप चेतना या आत्मा है। इन वैज्ञानिकों ने दावा किया है कि जब व्यक्ति दिमागी रूप में मृत्यु को प्राप्त होने लगता है, तब ये सूक्ष्म नलिकाएं क्वांटम क्षेत्र खोने लगती हैं। परिणामतः सूक्ष्म ऊर्जा कण मस्तिष्क की नलिकाओं से निकलकर ब्रह्माण्ड में चले जाते हैं। जब कभी मरता इंसान अचानक जी उठता है, क्योंकि ये कण वापस सूक्ष्म नलिकाओं में लौट आते हैं।

वैज्ञानिकों का यह शोध भौतिकशास्त्र के क्वांटम सिद्धांत पर आधारित है। इसके अनुसार आत्मा चेतना, दिमाग की कोशिकाओं में प्रोटीन से बनी सूक्ष्म नलिकाओं (माइक्रो ट्यूबुल्स) में ऊर्जा के सूक्ष्म स्रोत अणुओं एवं उप-अणुओं के रूप में रहती है। अर्जित ज्ञान भी इन्हीं सूक्ष्म कणों में संग्रहित रहता है। सूक्ष्म ऊर्जा कणों के ब्रह्माण्ड में जाने के बावजूद उनमें दर्ज

सूचनाएं नष्ट नहीं होती हैं। सूक्ष्म नलिकाओं पर पहने वाले क्वांटम गुरुत्वाकर्षण प्रभाव के परिणामस्वरूप मनुष्य को चैतन्यता का अनुभव होता रहता है। दरअसल हमारी आत्मा मस्तिष्क में तंत्रिका कोशिकाओं (न्यूरॉन्स) के बीच बनने वाले संबंध से कहीं ज्यादा व्यापक है। असल में आत्मा का निर्माण उन्हीं तंतुओं या तत्वों से हुआ है, जिनमें सक्रियता और समन्वय के पश्चात् ब्रह्माण्ड अस्तित्व में आया था। इसीलिए भारतीय दर्शन में उल्लेख है कि आत्मा, काल के जन्म से ही ब्रह्माण्ड में व्याप्त है। वैज्ञानिकों ने इस सिद्धांत को 'आवेक्स्ट्रेड ऑब्जेक्टिव रिएक्शन' नाम दिया है।

आत्मा से मृत्यु के संबंध के बारे में हामरॉफ कहते हैं कि 'मृत्यु जैसे अनुभव में सूक्ष्म नलिकाएं अपनी क्वांटम अवस्था गंवा देती हैं, किंतु इसके अंदर के अनुभव क्षीण नहीं होते हैं। अतएव आत्मा केवल शरीर छोड़कर ब्रह्माण्ड में चली जाती है। इस अवस्था में कई बार रोगी मृत्यु को प्राप्त हो जाने के पश्चात् भी जीवित हो जाता है, तो इसका कारण यह होता है कि सूक्ष्म नलिकाएं क्वांटम अवस्था को पुनः प्राप्त हो जाती है। जीवन और मृत्यु के बीच रोगी के साथ जो घटता है, वह मृत्यु का मात्र अनुभव होता है। मृत्यु के बाद क्वांटम सूचनाएं शरीर के आस-पास कुछ समय तक मंडाराती रहती हैं, इन्हें पूरी तरह नष्ट करने के लिए ही हिंदुओं में अंतिम संस्कार के समय कपाल-क्रिया करने का प्रावधान है। म्युनिख के प्लंक इंस्टीट्यूट के वैज्ञानिक हेस पीटर ने भी आत्मा की अमरता पर किए इस शोध से सहमति जताई है।

अब जरा आत्मा के संबंध में गीता में कृष्ण द्वारा अर्जुन को दिया उपदेश समझते हैं। आत्मा की अमरता का सार-तत्व इन दो श्लोकों में अंतर्निहित है-

वासांसि जीर्णानी यथा विहाय
नवानि गृहणति नरोः पराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-न्यन्यानि
संयाति नवानि देही।

अर्थात मनुष्य जैसे पुराने कपड़ों को छोड़कर दूसरे नए कपड़े पहन लेता है, ऐसे ही आत्मा पुराने शरीर को त्याग कर नए शरीर में प्रवेश कर जाती है।

नैनं छिदन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्तयापो न शयति मारुतः ।।

अर्थात आत्मा को शस्त्र काट नहीं सकते, अग्नि जला नहीं सकती। जल इसे गीला नहीं कर सकता और वायु इसे सुखा नहीं सकती है। आत्मा की अमरता का यह विज्ञान-सम्मत शोध हमारे ऋषियों ने पांच हजार वर्ष पहले कैसे किया, यह भी एक अनुसंधान का विषय है? भारतीय दर्शन स्पष्ट रूप से मानता है कि जीवात्मा रूपी ईश्वरीय अंश सभी जीवों में एक समान रूप से विद्यमान है। आत्मा या जीवात्मा का कोई न रंग है, न रूप है। आत्मा के संदर्भ में आश्चर्य यह भी है कि आत्मा जिस भी जीव में उपलब्ध है, उसे भी न यह दिखती है और न वह इसके अंग के रूप में अनुभव करता है। किसी अन्य को भी यह नहीं दिखती है। इसीलिए भारतीय चिंतन में उल्लेख है कि जो जीवात्मा है, वह अनेक अनाध्यात्कि स्तरों के माध्यम से शरीर से लिपटी हुई है। यही वजह है कि आत्मा की चिंगारी प्रत्येक जीवात्मा में विद्यमान है।

जगत के विकास की प्रक्रिया पंच-तत्वों से जीवन की ओर जाती है। जीवन से जैव-मानस, जैव-मानस से मानवीय प्रज्ञा और इसके बाद आध्यात्मिक मुक्ति, यानी शरीर से प्राण या जीवन के अंश का निकल जाना। अतः सृष्टि की आरंभिक अवस्था में जो जल था, वह कोई साधारण जल नहीं था, बल्कि इस जल में ऐसे सर्वव्यापी विलक्षण तत्व मौजूद थे, जो सृष्टि के निर्माण और मातृत्व की क्षमता रखते थे। उस समय जल, अग्नि, वायु, आकाश और पृथ्वी तत्व परस्पर घुले-मिले थे। यानी ये तत्व जब सागर की विपुल जल-राशि में समवेत थे, तब यह जल-राशि दैवीय चमक की विलक्षण ऊर्जा से अभिभूत थी।

फलस्वरूप एक कोशीय जीवों की अनायास उत्पित्त हुई। जैविक विकास की दूरी तय करते हुए यह कोशिका मछली, मछली से कछुआ, कछुआ से वराह, वराह से नरसिंह, नरसिंह से वामन और वामन से पूर्ण पुरुष परशुराम के रूप में अवतरित होती चली गई। सनातन हिंदू धर्म की दशावतार अवधारणा में जैविक विकास का यही क्रम है, जो डार्विन के जैविक विकास के सिद्धांत से कहीं ज्यादा विस्तृत और तार्किक है। जीवन के इस विकास क्रम को हम पृथ्वी पर रेंगने वाली इल्ली से उड़ने वाली तितली के बदलते स्वरूप में देख सकते हैं। यह इल्ली आश्चर्यजनक कायांतरण (शरीरिक बदलाव) से गुजरते हुए एक सुंदर चमकीली बहुरंगी तितली में बदल जाती है। जड़ पदार्थों से चेतना ग्रहण कर विविध रंगो में बदलने का यही आयाम, प्रकृति का सबसे अद्‌भुत रहस्य है और यही ब्रह्माण्ड निर्माण से जुड़े तत्वों से मानव मस्तिष्क में अंतर्सबंध स्थापित करते हैं।

मानव-मस्तिष्क और ब्रह्माण्ड के अंतर्ससंबंध के सिलसिले में अनेक शोध हो चुके हैं। दरअसल डाई मिथाइल-ट्रिप्टामाइन (डीएमटी) के शोध से पता चला है कि मानव-मस्तिष्क ब्रह्माण्ड के चुबंकीय क्षेत्र से जुड़ा होता है। इसी करण दिमाग की संरचना में 65 प्रतिशत नियोकार्टेक्स रहता है। इसमें विचार, करुणा, साहस, कायरता इत्यादि गुणों का अस्तित्व रहता है। इसीलिए ब्रह्माण्डीय परिवर्तन के ये कारक मनुष्य की नियति को भी बदल डालने में सक्षम होते हैं। इसीलिए कहा जा रहा है कि जलवायु परिवर्तन बढ़ती आत्महत्याओं का एक कारण है।

गीता में दर्ज आत्मा की अमरता के जिस दर्शन को हम नकारने की भरसक कोशिश में लगे रहते हैं, उसकी सच्चाई अब सामने है। आत्मा अमर है तो पुनर्जन्म भी स्वाभाविक है। शताब्दियों से इंसान इसी शाश्वत समस्या के सत्य को जानने की कोशिश में लगा है कि मृत्यु होने के बाद क्या होता है? मृत्यु के बाद नए जीवन के रूप में पुनर्जन्म होता है या सबकुछ शून्य में बदल जाता है? इस विषयक डॉ. रेमंड ए. मूडी की किताब है, 'लाइफ ऑफ्टर लाइफ'। इसका हिंदी अनुवाद 'जीवन के बाद जीवन' नाम से आया है। मूडी ने सौ से अधिक ऐसे लोगों से चर्चा की है, जो मृत्यु को प्राप्त होने के कुछ समय बाद एकाएक जी उठे। इस बातचीत से निष्कर्ष निकला कि इंसान का जीवन मृत्यु के बाद भी खत्म नहीं होता।

आत्मा की अमरता और जीवन चक्र की निरंतरता का उत्कृष्ट उदाहरण 'योग-वाशिष्ठ' में उल्लेखित एक रोचक कथा में मिलता है। राजा पद्म और उनकी पत्नी लीलावती के माध्यम से इस कथा में बताया है कि ब्रह्माण्ड का अस्तित्व कई स्तरों में विभाजित है। इस कथा में इन स्तरों को मनुष्य की अंतर्चेतना की परतों से जोड़कर वर्णन किया गया है। जिस तरह से केले के तने के भीतर एक के बाद एक परतों का सिलसिला मौजूद रहता है, उसी अनुरूप प्रत्येक सृष्टि के भीतर सृष्टियों का क्रमिक सिलसिला विद्यमान रहता है। संसार में व्याप्त चेतना के प्रत्येक परमाणु में जिस प्रकार से स्वप्न-लोक उपस्थित है, उसी सृष्टि या जगत में अनंत द्रव्य के अनंत परमाणुओं के भीतर अनेक प्रकार के जीव और उनके जगत उपलब्ध हैं।

(वरिष्ठ साहित्यकार और पत्रकार)
शब्दार्थ, 49 श्रीराम कॉलोनी
शिवपुरी (म.प्र.)
मो.-09425488224, 9981061100

●

शुद्ध जल, शुद्ध वायु और शुद्ध पर्यावरण प्रकृति के स्वास्थ्य और मनुष्य के जीवन की निशानी होते हैं।

ब्राह्मण ग्रन्थ

प्रो. योगेश चन्द्र शर्मा

वैदिक साहित्य में चार वेदों के अतिरिक्त ब्राह्मण ग्रन्थ, आरण्यक, उपनिषद्, वेदांग तथा उपवेद भी सम्मिलित हैं। इनमें भी ब्राह्मण ग्रन्थों का विशेष महत्व है। संहिताओं के पश्चात् दूसरा स्थान ब्राह्मण ग्रन्थों का ही है। इन ग्रन्थों का सम्बन्ध ब्राह्मण जाति से नहीं, अपितु 'ब्राह्मण' से है, जो ब्रह्म शब्द में 'अण' प्रत्यय जोड़कर बना है। 'ब्रह्म' के यहां दो अर्थ हैं- मंत्र तथा यज्ञ। इस प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थों में वैदिक मंत्रों की व्याख्या की गयी है तथा उनके अनुसार यज्ञ करने की विधि का विस्तृत उल्लेख है। "मंत्रों एवं उनके विनियोगों की जिसमें व्याख्या निहित होती है, उसे ब्राह्मण कहते हैं।" ये ग्रन्थ गद्य में लिखे गये हैं। कहीं-कहीं प्रसंगवश इनमें कुछ घटनाओं की भी चर्चा की गयी है। इससे ऐतिहासिक और शोध की दृष्टि से भी ये ग्रन्थ महत्वपूर्ण हैं। पौराणिक मान्यता के अनुसार प्रारम्भ में ब्राह्मण ग्रन्थों की संख्या उतनी ही थी, जितनी वेदों की शाखाएं थीं। तदनुसार 1130 ब्राह्मण ग्रन्थों के होने का अनुमान लगाया गया है, किन्तु इस समय केवल 18 ब्राह्मण ग्रन्थ उपलब्ध हैं। प्रत्येक वैदिक संहिता के अलग-अलग ब्राह्मण ग्रन्थ हैं। पाणिनी के अनुसार प्राचीनकाल में ब्राह्मण ग्रन्थों के अतिरिक्त कुछ अनुब्राह्मण भी थे, जो अब उपलब्ध नहीं हैं। श्री सत्यव्रत सामश्रमि ने सामवेद के 'आर्षेय ब्राह्मण' को अनुब्राह्मण ही माना है।

वेदों के समान ब्राह्मण ग्रन्थों का भी निश्चित रचनाकाल बतलाना कठिन है। ब्राह्मण ग्रन्थों में ब्राह्मणों को समाज में सर्वोपरि स्थान दिया गया है और उन्हें देवताओं के समकक्ष माना गया है। चूंकि बौद्धकाल में ब्राह्मण और देवताओं का महत्व काफी कम हो गया था, इसलिए यह अनुमान है कि इन ग्रन्थों की रचना वेदों से काफी बाद में तथा बौद्धकाल से काफी पहले हुई थी। मैक्समूलर के अनुसार इन ग्रन्थों की रचना ईसा से लगभग 600 से 800 वर्ष पूर्व हुई थी और लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक के अनुसार इन ग्रन्थों की रचना ईसा से 3000 वर्ष पूर्व पूरी हो चुकी थी। यह तो स्पष्ट है ही कि सभी ब्राह्मण ग्रन्थों की रचना एक साथ नहीं हुई। अनुमानतः इसमें सैकड़ों वर्ष लगे। विभिन्न अनुमानों के आधार पर यदि निष्कर्ष निकाला जाए तो यह रचना काल ईसा से एक हजार वर्ष पूर्व से लेकर तीन हजार वर्ष पूर्व तक बैठेगा। फिर भी है यह अनुमान ही।

ऋग्वेद के ब्राह्मण

ऋग्वेद से सम्बन्धित दो ब्राह्मण ग्रन्थ उपलब्ध है। प्रथम 'ऐतरेय ब्राह्मण' और दूसरा 'कोषितकि ब्राह्मण', जिसे कहीं-कहीं शांखायन ब्राह्मण के नाम से भी जाना जाता है।

ऐतरेय ब्राह्मण - पारम्परिक रूप में किसी महिदास ऐतरेय नामक ऋषि को इसका द्रष्टा ऋषि माना जाता है। एक मान्यता यह भी है कि यह ग्रन्थ किसी एक ऋषि की कृति नहीं है। इसमें अनेक ऋषियों का योगदान प्रतीत होता है। महिदास इसके वर्तमान पाठ के केवल संपादक हो सकते हैं। महिदास को दासी पुत्र भी माना गया है।

ऐतरेय ब्राह्मण में कुल 40 अध्याय हैं। प्रत्येक पांच अध्यायों को मिलाकर एक पंचिका बनती है और इस प्रकार इसमें कुल आठ पंचिकाएं हैं। प्रत्येक अध्याय का विभाजन खण्डों में किया गया है, जिनकी अलग-अलग अध्यायों में अलग-अलग संख्या है। चालीस अध्यायों में कुल 285 खण्ड हैं। ऐतरेय ब्राह्मण में देश के विभिन्न क्षेत्रों में निवास करने वाली विभिन्न जातियों या वंशों का उल्लेख है। तदनुसार उस समय पूर्व में विदेह राज्य, दक्षिण में भोज राज्य, पश्चिम में नीच्य और अपाच्य का राज्य, उत्तर में उत्तर-कुरुओं तथा उत्तर-भद्र का राज्य तथा मध्य भाग में कुरु पंचाल राज्य थे। इनके अतिरिक्त मत्स्य, कुरु, काशी तथा खाण्डव आदि क्षेत्रों का भी इसमें उल्लेख है। ग्रंथ में मध्य भाग की विशेष प्रशंसा की गयी है। इससे लगता है कि महिदास ऐतरेय सम्भवतः मध्य भाग के ही रहने वाले थे। ऐतरय ब्राह्मण में परीक्षित पुत्र जनमेजय, मनु पुत्र शर्यात, उग्रसेन पुत्र आदि युधांश्रौष्टि, अविश्रित पुत्र मरुत्तम, दुष्यन्त पुत्र भरत तथा सत्यवादी राजा हरिश्चन्द्र आदि का भी उल्लेख है।

'ऐतरेय ब्राह्मण' में इन्द्र को साहसी, शक्तिशाली और सर्वश्रेष्ठ देवता बतलाया गया है। इसमें कुल 33 देवता स्वीकारे गये हैं, जिनमें अग्नि प्रथम देवता है। विष्णु को परम देवता के रूप में माना गया है। नारी को नर की अर्द्धांगिनी बतलाते हुए कहा गया है कि बिना पत्नी के पुरुष को यज्ञ करने का अधिकार नहीं है। इसमें पुरोहित को गौरवपूर्ण स्थान दिया गया है, जो राजा से प्रतिज्ञा करवाता है कि वह अपनी प्रजा से कभी भी द्रोह नहीं करेगा। इसमें अनेक नैतिक मूल्यों और आचार-विचार के सिद्धान्तों का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि परिश्रम करने से ही सफलता प्राप्त होती है। बैठे ठाले व्यक्ति का भाग्य भी बैठ जाता है और सोने वाले का भाग्य भी सो जाता है।

शांखायन ब्राह्मण - इसका उल्लेख कहीं-कहीं 'सांख्यायन' के नाम से भी किया गया है। इसका दूसरा नाम 'कौषीतकि ब्राह्मण' भी है। यह ऋग्वेद की शांखायन शाखा का ब्राह्मण है। इसका प्रवक्ता कौषीतकि ब्राह्मण (कहीं-कहीं शांखायन ब्राह्मण) को माना जाता है। इस ग्रन्थ में कुल 30 अध्याय हैं और प्रत्येक अध्याय असमान खण्डों में विभाजित है। इस प्रकार इसमें कुल 227 खण्ड हैं। यह ग्रन्थ स्पष्ट रूप में एक ही व्यक्ति की रचना प्रतीत होती है। इसमें विष्णु को उच्च कोटि का देवता माना गया है। इसमें शिव के भी अनेक नामों का उल्लेख है। यथा महादेव, पशुपति, रुद्र, ईशान आदि। ऐतरेय ब्राह्मण के समान इसमें आचार-व्यवहार के अनेक नियम बतलाये गए हैं। वाणी की मधुरता को विशेष महत्व दिया गया है।

यजुर्वेद के ब्राह्मण

शतपथ ब्राह्मण - शुक्ल यजुर्वेद का शतपथ ब्राह्मण, सभी ब्राह्मण ग्रन्थों में सबसे बड़े आकार का है। इसके एक सौ अध्यायों के आधार पर ही इसका नाम 'शतपथ ब्राह्मण' पड़ा। शुक्ल यजुर्वेद की दो शाखाएं हैं - काण्व और माध्यन्दिन। इन दोनों शाखाओं में 'शतपथ ब्राह्मण' उपलब्ध है। वर्णन क्रम तथा संख्या के अन्तर के बावजूद दोनों में विषय की समानता है। माध्यन्दिन शतपथ ब्राह्मण में 100 अध्याय, 14 काण्ड, 68 प्रपाठक, 438 ब्राह्मण तथा

7624 कंडिकाएं हैं। इससे अलग काण्व शाखीय शतपथ ब्राह्मण में 17 काण्ड, 104 अध्याय, 435 ब्राह्मण और 6806 कण्डिकाएं हैं।

'शतपथ ब्राह्मण' ग्रन्थ सर्वाधिक प्राचीन ब्राह्मण ग्रन्थ है। इसका रचनाकाल ईसा से 5000 वर्ष पूर्व तक माना जाता है। इसमें तत्कालीन आर्यों के जीवन का विभिन्न दृष्टिकोणों से परिचय दिया गया है। इसमें सोमरस की विधि तथा महत्व का वर्णन है। राजाओं द्वारा किये जाने वाले राजसूय यज्ञ की भी इसमें चर्चा है। केवल अभिषिक्त राजाओं द्वारा ही किये जाने वाले अश्वमेध यज्ञ का भी इसमें वर्णन किया गया है। इस ग्रन्थ में गान्धार, केकय, शाल्व, कौशल, विदेह तथा कुरुपांचाल आदि जनपदों का उल्लेख किया गया है। कुरुपांचाल उस समय ब्राह्मण संस्कृति का प्रमुख केन्द्र था। अश्वमेध यज्ञ के संदर्भ में इसमें जनक, दुष्यंत तथा जनमेजय आदि राजाओं का चचा की गयी है। इसमें 33 देवताओं का स्वरूप निरूपण किया गया है, जिनमें 8 वसु, 11 रुद्र, 12 आदित्य तथा इन्द्र और प्रजापति हैं। एक स्थान पर देवताओं की संख्या 3003 भी बतलाई गयी हैं, लेकिन आगे चलकर इसे देवताओं की केवल महिमा बतलाया गया है।

शतपथ ब्राह्मण के अनुसार प्रारम्भ में एकमात्र ब्रह्म की सत्ता थी। सृष्टिकर्ता प्रजापति हैं। प्रजापति की उत्पत्ति जल में तैरते हुए हिरण्मय अण्ड से मानी गयी है। मनु द्वारा सम्पादित एक यज्ञ से सुन्दर स्त्री की उत्पत्ति हुई और तब सृष्टि का क्रम आगे बढ़ा। इस ग्रन्थ में सोमलता को कूटकर उससे सोमरस बनाने की तथा उसे देवताओं को चढ़ाने की विधि का भी उल्लेख है। शतपथ ब्राह्मण में उर्वशी-पुरुरुवा, मन और वाणी संवाद, इन्द्र-वृत्र युद्ध, सुपर्णी तथा कद्रू, च्यवन भार्गव तथा शर्यात मानव, नमूचि तथा इन्द्र, मनु तथा श्रद्धा, जल प्लावन और प्रजापति द्वारा सृष्टि की उत्पत्ति आदि आख्यानों की चर्चा है, जिनके बारे में परवर्ती पुराणों में विस्तार से काफी कुछ कहा गया।

तैत्तिरीय ब्राह्मण - यह कृष्ण यजुर्वेद का ब्राह्मण है। यह कुल तीन कांडों अथवा अष्टकों में विभक्त है। प्रथम दो काण्डों में आठ और तीसरे काण्ड में 12 अध्याय या प्रपाठक हैं। इसमें यज्ञ, मंत्रों और यज्ञ प्रक्रियाओं का विस्तृत वर्णन है। इसमें प्रजापति की दो कन्याओं की चर्चा है - श्रद्धा तथा सीतासावित्री। सोम श्रद्धा से विवाह करना चाहता था, लेकिन सीतासावित्री सोम से विवाह करना चाहती थी। तब प्रजापति ने सीतासावित्री के चेहरे पर वशीकरण औषधि का लेप कर दिया। इससे सोम सीतासावित्री की तरफ आकर्षित हो गया और तब, उन दोनों का विवाह हो गया। इस कथा के अतिरिक्त भी इसमें नचिकेता आख्यान, महर्षि भारद्वाज आख्यान, अगस्त्य आख्यान तथा सृष्टि, यज्ञ और नक्षत्रों से संबंधित भी अनेक आख्यानों का उल्लेख है।

तैत्तिरीय ब्राह्मण में असत्य से सत्य की तरफ बढ़ने के लिए मानव का आह्वान किया गया है। इससे मनुष्य मानवता से देवत्व की तरफ बढ़ता है। तपोमय जीवन की इसमें विशेष प्रशंसा की गयी है। तपस्या से ही देवताओं ने अपनी विशेष स्थिति प्राप्त की और तपस्या से ही ऋषियों ने स्वार्गिक सुख प्राप्त किया तथा अपने शत्रुओं का विनाश किया। इस ग्रन्थ में सबके प्रति मैत्री भाव पर बल दिया गया है। जिसके साथ व्यक्ति सात चरण भी चल लेता है, वही उसका मित्र हो जाता है। मित्रता की इस भावना को कभी क्षति नहीं पहुंचानी चाहिए।

सामवेद के ब्राह्मण

सामवेद ब्राह्मणों की दो शाखाएं हैं। प्रथम ताण्डि शाखा और दूसरी जैमिनी या तवल्कार शाखा। इनमें से इस समय हमारे पास ताण्डि शाखा के आठ ब्राह्मण उपलब्ध हैं - 1. ताण्ड्य ब्राह्मण (प्रौढ़ या पंचविश ब्राह्मण) 2. षडविंश ब्राह्मण 3. सामविधान ब्राह्मण 4. आर्षेय ब्राह्मण 5. देवताध्याय ब्राह्मण 6. उपनिषद् ब्राह्मण 7. संहितोपनिषद् ब्राह्मण और 8. वंश ब्राह्मण। इनके अतिरिक्त जैमिनी शाखा के तीन ब्राह्मण अलग

हैं - जैमनीय ब्राह्मण, जैमिनीयार्षेय ब्राह्मण तथा जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण।

1. ताण्ड्य ब्राह्मण - सामवेद की ताण्डि शाखा से संबंधित होने के कारण ही इसे ताण्ड्य ब्राह्मण कहा गया। इसमें कुल 25 अध्याय है, जिससे इसका नाम 'पंचविश अध्याय' पड़ा तथा आकार में भारी भरकम होने के कारण इसे 'प्रौढ़ ब्राह्मण' भी कहा गया। इस ग्रन्थ का प्रमुख विषय सोमयाग है। इसमें सरस्वती नदी के किनारे सम्पन्न हुए अनेक यज्ञों का वर्णन है। सोमवाग में मंत्रों का उच्चारण किस प्रकार किया जाता है तथा उनके गायन में आरोह और अवरोह किस प्रकार होता है, इसकी अधिकृत जानकारी इसमें है। संस्कारहीन व्यक्तियों की शुद्धि की विधि भी इसी में बतलाई गयी है। इसमें रोहित नाम की एक नदी का भी उल्लेख है, जिसके आसपास के क्षेत्र को विश्वामित्र ने भरतों की सहायता से अपने नियंत्रण में ले लिया था।

2. षडविंश ब्राह्मण - इस ब्राह्मण ग्रन्थ को ताण्ड्य ब्राह्मण का ही पूरक माना जाता है, इसका पडविंश ब्राह्मण (अर्थात् छब्बीसवां ब्राह्मण) नाम भी यही संकेत करता है। यह भी माना जाता है कि प्रारम्भ में यह ब्राह्मण एक ही अध्याय में रहा होगा, किन्तु बाद में इसे छः अध्यायों में विभाजित कर दिया गया। इसके प्रथम पांच अध्याय यज्ञ के विधि विधान से संबंधित हैं, जबकि छठा अध्याय इनसे बिल्कुल अलग है, जिसे 'अद्भुत बाह्मण' कहते हैं। इस प्रकार षडविंश ब्राह्मण के अपने केवल पांच ही अध्याय हैं। इसके प्रथम अध्याय में कहा गया है कि वशिष्ठ गोत्र में उत्पन्न हुए ब्राह्मण को ही यज्ञ में ब्रह्मा के रूप में नियुक्त किया जाना चाहिए (पंचम खण्ड)। ज्ञात-अज्ञात त्रुटियों के प्रायश्चित का भी इसमें विधान दिया हुआ है।

3. अद्भुत ब्राह्मण - जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है, इसमें अनेक असाधारण बातों की चर्चा है। इसके कुल 12 खण्ड हैं जिनमें शकुन, अपशकुन तथा अनेकानेक अनिष्टों की चर्चा के साथ ही उनसे बचने के लिए उपाय दिये हुए हैं। इन्द्र, यम, वरुण, धनद, अग्नि, वायु, सोम और विष्णु इन आठ देवताओं के लिए आठ मंत्र भी दिये गए हैं। विभिन्न प्रकार की व्याधियों, दुःस्वप्न, अनिद्रा, आलस्य तथा क्षुधानाश आदि से मुक्ति के लिए इसमें अनेक मंत्र दिये हुए हैं। अतिवृष्टि, अनावृष्टि और भूकंप आदि में भी किये जाने वाले अनुष्ठानों का इसमें उल्लेख है। इसमें इन्द्र-अहिल्या सहित अनेक कथाएं भी दी गयी हैं।

सामविधान ब्राह्मण - यह ग्रन्थ अन्य ब्राह्मण ग्रन्थों से अलग हटकर है। यह कुल तीन प्रकरण और 25 अनुवाकों में विभक्त है। इसमें काम्य प्रयोग तथा प्रायश्चितों का विशेष रूप से वर्णन किया गया है। इसमें जप-तप के अतिरिक्त अनेक प्रकार के जादू-टोनों के लिए सामगान की भी व्यवस्था दी हुई है। इसमें किसी व्यक्ति को गांव से भगाने, शत्रु का विनाश करने, पुत्र प्राप्त करने तथा ऐश्वर्य प्राप्त करने आदि के लिए साम गायन और कुछ अनुष्ठानों की चर्चा की गयी है।

सामविधान ब्राह्मण से ज्ञात होता है कि उस समय शूद्रों को वेद पढ़ाना, शूद्रा के साथ विवाह करना, बड़े भाई से पहले छोटे का विवाह करना अपराध माने जाते थे जिनसे तथा नर हत्या, गौ हत्या, मद्यपान और दुग्ध विक्रय आदि अपराधों से छुटकारा प्राप्त करने की भी इसमें व्यवस्था दी हुई है और उनके लिए प्रायश्चित बतलाया गया है।

5. आर्षेय ब्राह्मण - इसकी विषयवस्तु मुख्यतः सामगान के ऋषियों से सम्बन्धित है। इसमें कतिपय उन ऋषियों की चर्चा की गयी है, जिन्होंने सामगान की योजना बनाई या जो उसके प्रचारक ऋषि रहे। इसमें कुल तीन प्रपाठक और बयासी खण्ड हैं। ऋषियों के नाम के साथ ही इस ग्रन्थ में उनके गोत्र या वंश का भी उल्लेख किया गया है।

6. दैवत ब्राह्मण (देवताध्याय ब्राह्मण) - इसका

आकार अत्यन्त लघु है। कुछ हस्तलिखित और प्रकाशित संस्करणों में इसके तीन और कुछ में चार खण्ड उपलब्ध होते हैं। इसमें अग्नि, इन्द्र, वरुण, सोम, प्रजापति, त्वष्टा, पूषा, आंगिरस तथा सरस्वती आदि की प्रशंसा के सामगान दिये हुए हैं। इसका विशेष महत्व छन्दों की निरुक्तियों के वर्णन के कारण है, जिससे भाषा शास्त्र की दृष्टि से यह काफी महत्वपूर्ण है।

7. उपनिषद् ब्राह्मण - इसके हमें दो ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। प्रथम मंत्र ब्राह्मण अथवा छान्दोग्य ब्राह्मण और दूसरा छान्दोग्योपनिषद्।

मंत्र या छान्दोग्य ब्राह्मण में केवल दो प्रपाठक हैं और प्रत्येक प्रपाठक में आठ-आठ खण्ड हैं। इसमें कुल 257 मंत्र हैं। गुणविष्णु ने गृह्य सूत्र के 11 मंत्र इसमें और जोड़ दिये हैं। इसमें गर्भाधान, पिण्डदान, मुण्डन, उपनयन तथा नवगृह प्रवेश आदि के मन्त्र दिये हुए हैं।

उपनिषद्-ब्राह्मण के शेष आठ प्रपाठक छान्दोग्योपनिषद् के भाग हैं। इसमें तत्व ज्ञान और तत्संबंधी कर्म और उपासनाओं की विशद विवेचना है। इसमें अनेक आख्यानों का उल्लेख है। यथा - शिलक, दालभ्य और प्रवाहण संवाद, उषस्ति का आख्यान, राजा जनश्रुति और रैक्व का उपाख्यान, सत्यकाम का उपाख्यान तथा केकय अश्वपति का आख्यान आदि। इसमें भौतिक प्रयोजनों के लिए यज्ञानुष्ठान और सामगान करने वालों पर व्यंग्य भी किया गया है।

8. संहितोपनिषद् ब्राह्मण - सामगायन का रहस्य समझने की दृष्टि से इस ब्राह्मण का विशेष महत्व है। इस ग्रन्थ में सामगान की विधि, अनुलोम-विलोम स्वर तथा अन्य विविध स्वरों की विवेचना है। इसमें तीन प्रकार की गान संहिताओं का वर्णन किया गया है, जिनमें प्रथम मंगलकारी तथा शेष दो अमंगलकारी हैं। ये तीन इस प्रकार हैं - 'देवहू संहिता', 'वाक्शबहू संहिता' तथा 'अमित्रहु संहिता'। 'देवहु संहिता' का वर्णन करते हुए कहा गया है कि इसका उच्चारण मंद स्वर से होता है और इससे देवगण शीघ्र पधारते हैं। इस पद्धित को अपनाने वाला हर प्रकार की समृद्धि को प्राप्त करता है। इसके विपरीत वाक्शबहू प्रकार से अस्पष्टाक्षरों में गान करने वाला व्यक्ति शीघ्र मृत्यु को प्राप्त होता है। यह ग्रन्थ पांच खण्डों में है और प्रत्येक खण्ड सूक्तों में विभाजित है।

9. वंश ब्राह्मण - तीन खण्डों में विभाजित यह एक छोटा ब्राह्मण है। इसमें सामवेद को प्रारम्भ करने की ऐतिहासिक परंपरा दी हुई है। इसके अनुसार सामवेद को महर्षि कश्यप ने अग्नि से, अग्नि ने इन्द्र से, इन्द्र ने वायु से, वायु ने मृत्यु से, मृत्यु ने प्रजापति से और प्रजापति ने ब्रह्मा से प्राप्त किया। इस प्रकार सामवेद, ब्रह्मा से महर्षि कश्यप तक और उनके बाद अन्य ऋषि-महर्षियों तक पहुंचा। इस ग्रन्थ में सामवेद के आचार्यों की वंश परम्परा का भी उल्लेख है।

जैमिनिशाखीय साम ब्राह्मण

शतपथ ब्राह्मण के समान यह भी एक विशालकाय ग्रन्थ है। इस ब्राह्मण में कुल पांच भाग हैं। इनमें से प्रथम तीन भागों को जैमिनीय ब्राह्मण, चतुर्थ भाग को जैमिनीयार्षेय ब्राह्मण तथा पंचम भाग को जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण कहते हैं।

1. जैमिनीय ब्राह्मण - इसके कुल तीन भागों में से प्रथम में 360, द्वितीय में 437 और तृतीय में 385 खण्ड हैं। इस प्रकार इसके कुल 1182 खण्ड उपलब्ध हैं। इस ब्राह्मण ग्रन्थ की विषय सामग्री ताण्ड्य ब्राह्मण से काफी मिलती है, फिर भी दोनों के विवरण में पर्याप्त अन्तर है। 'ताण्ड्य ब्राह्मण' में जो विवरण अत्यन्त संक्षेप में दिया हुआ है, वही इसमें काफी विस्तार से दिया गया है। इसी ग्रन्थ में यह प्रसिद्ध उक्ति भी प्राप्त होती है कि 'ऊंचे मत बोलो, दीवारों के भी कान होते हैं।'

2. जैमिनीयार्षेय ब्राह्मण - इसकी विषय सामग्री 'आर्षेय ब्राह्मण' से मिलती-जुलती है। आर्षेय ब्राह्मण

में वर्णित विषय को इसमें कुछ संक्षेप में कहा गया है। कहीं-कहीं क्रम में भी कुछ भिन्नता है।

3. जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण - यह ग्रन्थ अन्य ब्राह्मण ग्रन्थों की तुलना में अधिक प्राचीन माना जाता है। छान्दोग्य उपनिषद् की भी अधिकांश सामग्री इसी ग्रन्थ से ली गयी है। इसमें अतिमानवीय शक्ति प्राप्त करने के लिए श्मशान-साधना आदि का भी विस्तार से वर्णन किया गया है। इसमें 'ओंकार' के महत्व का उल्लेख है। इससे हमें अनेक प्राचीन धार्मिक विश्वासों और परम्पराओं की जानकारी प्राप्त होती है। अन्य ब्राह्मण ग्रन्थों के विपरीत इसमें यज्ञ विधियों की अधिक चर्चा नहीं है।

अथर्ववेदीय ब्राह्मण

गोपथ ब्राह्मण - अथर्ववेद का केवल एक ही ब्राह्मण है- 'गोपथ ब्राह्मण'। इसके शाखा-सम्बन्ध के बारे में कुछ मतभेद रहा लेकिन अब इसे अथर्ववेद की पैप्पलाद शाखा का ब्राह्मण मान लिया गया है। इसके रचयिता गोपथ ऋषि थे और उन्हीं के नाम पर इसका नामकरण हुआ। इस ग्रन्थ के दो भाग हैं - पूर्व गोपथ तथा उत्तर गोपथ। पूर्व गोपथ में पांच तथा उत्तर गोपथ में छः अध्याय हैं। इन दोनों में मिलाकर कुल 258 कंडिकाएं हैं। इसकी काफी सामग्री 'शतपथ ब्राह्मण' से ली गयी है। इस ग्रंथ में मनुष्य पर तीन ऋणों की चर्चा की गयी है - देवऋण, ऋषिऋण और पितृऋण और इन ऋणों को चुकाने के लिए सन्तानोत्पत्ति आवश्यक है। इसके लिए एक से अधिक विवाह भी किये जा सकते हैं। किसी भी कार्य के प्रारम्भ में 'ओम्' उच्चारण करने पर इसमें बल दिया गया है। इसमें शिव का उल्लेख भी मिलता है। यह माना जाता है कि इस ग्रन्थ की रचना कालक्रम के हिसाब से काफी बाद में की गयी।

गोपथ ब्राह्मण का प्रारम्भ सृष्टि की उत्पत्ति से होता है। सृष्टि की कामना से स्वयम्भू ब्रह्म ने तपस्या की, जिससे जलवृष्टि हुई और उससे भृगु, अथर्वा, आथर्वण ऋषि, आंगिरस ऋषि, जगत, वेद तथा चन्द्रादि और यज्ञ की उत्पत्ति हुई। इस ग्रन्थ में 21 प्रकार के यज्ञ बतलाये गये हैं। इसके अनुसार अथर्ववेदियों के अभाव में किसी भी यज्ञ का सम्पादन नहीं हो सकता।

(सेवानिवृत्त स्नातकोत्तर विभागाध्यक्ष-राजनीतिशास्त्र विभिन्न विधाओं में 13 पुस्तकें प्रकाशित, अनेक पुरस्कारों से सम्मानित)
10/611, कावेरी पथ मानसरोवर,
जयपुर-302020 (राज.)
मो. - 9828662214

●

उदात्त धर्मचेतना

औरंगजेब का लड़का अपने बाप से डर, अपनी शहजादी को सुरक्षा की भावना से दुर्गादास के पास रखकर इराक भाग गया था। औरंगजेब अपनी पोती को पाने की बहुत कोशिश करता रहा और अंत में दुर्गादास को राजी कर किसी प्रकार वह अपनी पोती को प्राप्त कर सका।

औरंगजेब– 'तुम विधर्मी के घर से आई हो, इसलिए कुरान पढ़मा सीखो। मैं इसका इंतजाम करता हूँ।' पोती ने कहा, 'मैं तो रोज ही कुरान पढ़ती थी।' औरंगजेब चौंका और पूछने लगा- 'तुम्हें वहाँ कहाँ से मिली कुरान और कौन पढ़ाता था?'

शहजादी ने बताया– 'बाबा दुर्गादास ने मेरे लिए मुसलिम शिक्षिका रखी थी और वह कुरान पढ़ाती थी।' चाहे औरंगजेब बदला नहीं– भीतर से अवश्य निकले होंगे ये शब्द 'शुभान अल्लाह! दुश्मन– पर, कैसा अच्छा इंसान।'

वीरप्रवर दुर्गादास का यह उदाहरण भारत की उदार, उदात्त धर्मचेतना का एक दिव्य प्रमाण है!

मनस्तत्त्व का उपनिषदीय विवेचन

डॉ. लक्ष्मी शुक्ला

मानव जीवन में मन का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। वह हमें शुभ-अशुभ किसी भी राह पर ले जाने में सक्षम है। यह मन (मनस्तत्व) क्या है, कैसा है, सूक्ष्म है कि स्थूल, भौतिक है या आध्यात्मिक, अणुमात्र है अथवा व्यापक-- इस प्रकार के प्रश्न अनादिकाल से चर्चित रहे हैं। यह तथ्य है कि मन के अध्ययन से हमें स्वयं अपने तथा दूसरों के भी व्यवहारों, विचारों, अनुभवों एवं क्रियाकलापों आदि से सम्बद्ध समस्याओं का समाधान करने में सहायता मिलती है। मन को लेकर विगत दो-ढाई सौ वर्षों में एक शास्त्र ही अस्तित्व में आया है, जिसका नाम है मनः शास्त्र या मनोविज्ञान अर्थात् मानवमन के स्वरूप, वृत्तियों, क्रियाओं तथा दशाओं आदि से सम्बद्ध शास्त्र।

मनोविज्ञान का अंग्रेजी पर्याय है साइकोलॉजी। यह शब्द लेटिन भाषा के 'साइको' और 'लोगस' दो शब्दों से मिलकर बना है। जिसका अर्थ होता है आत्मा का विज्ञान। इस शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग तर्कशास्त्री गोकनेलियस ने अपनी पुस्तक on the nature and origin of the human soul में किया था। इसकी परिभाषा में परिवर्तन हुए और 'आत्मा' शब्द को 'उपयुक्त न समझते हुए हटा कर मन को उसका स्थानापन्न बनाया गया फिर आगे तो' मन भी वैज्ञानिक अध्ययन के लिये अपेक्षित नहीं रहा।

भारतीय मनीषा ने पृथक शास्त्र के रूप में मनोविज्ञान का अध्ययन कभी नहीं किया किन्तु विषयवस्तु की दृष्टि से इसका मूल वेदों एव उपनिषदों में ही देखा जा सकता है। प्राचीन दार्शनिक ग्रंथों में मन, चेतना, इन्द्रिय, शरीर एवं व्यवहार आदि से सम्बद्ध प्रभूत सामग्री विकीर्ण है। संहिता एवं ब्राह्मण ग्रन्थों में 'मनस' शब्द मापन अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। यह मानव जीवन की एक क्रिया है, जिससे व्यक्ति अपने मन से ज्ञान और सुखादि भावनाओं का मापन करता है। छान्दोग्योपनिषद् में इसे भौतिक पदार्थ स्वीकार कर अन्नमय कहा गया है।[1] यह भौतिक होते हुए भी स्थूल नहीं सूक्ष्म पदार्थ है। बृहदारण्यक उपनिषद[2] में इसे भौतिक आधार वाला ज्ञान का साधन अर्थात इन्द्रिय माना गया है।

मन, चेतना आदि विषयों का अध्ययन करने वाले अनेक मनोवैज्ञानिक एवं दार्शनिक ऋषियों के नाम उपनिषदों में उल्लिखित हैं। उनमें से कुछ हैं :- उद्दालक, पञ्चशील, वाडिल, शार्कराक्ष्य, इन्द्रद्युम्न, शाव्यग्य, दिव्याग्नि, रैक्व, अश्वपति, कैकेय, शाट्यकम, जाबाल,

अजातशत्रु, पिप्पलाद, ककन्धी, कात्यायन आदि। इनके साथ ही कतिपय स्वप्न मीमांसकों का परिचय भी हमें उपनिषदों में प्राप्त होता है। यथाः- सौर्यायणी, गार्ग्य, शैव्य, सत्यकाम आदि। दार्शनिक चिन्तकों में सुकेशी भारद्वाज जैसे ऋषिगण अग्रगण्य हैं। पुनर्जन्म- मीमांसकों में वामदेव ऋषि प्रसिद्ध हुए। अनेक परामनोवैज्ञानिकों के नाम भी उक्त साहित्य में प्राप्तव्य हैं। जिनमें प्रमुख हैं जीतवन, शैलिनि, उदक, शौल्यायण, वर्कुवष्णर्य, गर्दभीविपीत, भरद्वाज, विदग्ध शाक्ट्य इत्यादि।

मनोविज्ञान से सम्बद्ध इतने नाम इस बात को प्रमाणित कर सकते हैं कि प्रायः सभी उपनिषदों में मनस्तत्त्व चिन्तन यत्र-तत्र विकीर्ण है। मन, इन्द्रियों, शरीर, चेतना, अनुभूतियां, संवेग, प्रत्यक्ष, स्वप्न, निद्रा, पुनर्जन्म, बुद्धि, परचित्त ज्ञान आदि विषय इन चिन्तकों के प्रिय विषय हैं। महामुनि कपिल एवं पतञ्जलि प्रणीत सांख्य एवं योग दर्शन भारतीय मनोविज्ञान के मूलाधार हैं एवं ये सभी दर्शनों से प्राचीन भी ठहरते हैं। श्री रिचर्ड गोर्बे का कथन है कि संसार के इतिहास में पहली बार कपिल के दर्शन (सांख्य) में मानव मन की पूर्ण स्वतन्त्रता एवं स्वाधीनता तथा उसकी अपनी शक्तियों में पूर्ण विश्वास प्रदर्शित हुआ है। मैत्रायणी उपनिषद में सांख्य का विकसित स्वरूप देखा जा सकता है। उसमें तन्मात्र, गुण, प्रकृति तथा आत्मा में अन्तर की चर्चा की गयी है। प्रसिद्ध दार्शनिक कीथ का भी कथन है कि ऐसा शायद ही कुछ हो जिसकी चर्चा उपनिषदों में न की गयी हो। इस कथन से स्पष्ट है कि कीथ ने सांख्यदर्शन का विकास उपनिषदों से स्वीकार किया है। उपनिषदों के आधार पर हम मनस तत्त्व से सम्बद्ध विषयों का पृथक्-पृथक् अध्ययन करने का प्रयास कर सकते हैं।

चेतना- चेतना या आत्मा उपनिषदों का प्रमुख प्रतिपाद्य विषय है। यह समस्त चिन्तन सत्य, आत्मा अथवा परमात्मा के अध्ययन से सम्बद्ध है। केनोपनिषद् में कहा गया है- 'यन्मनसा न मनुते, येनाहुमनोमतम्[2] अर्थात उसका मनन मन से सम्भव नहीं है अपितु मन उसी के कारण चिन्तन कर पाता है। कठोपनिषद् इस कथन के विपरीत कहता प्रतीत होता है- मनसेवानुद्रष्टव्यं नेहनानास्तिकिञ्चन[3] अर्थात हम आत्मज्ञान की प्राप्ति मन के माध्यम से ही कर सकते हैं। वह चितिशक्ति एक है अनेक नहीं। वस्तुतः दोनों उक्तियों में विरोध नहीं है क्योंकि जब केनोपनिषद् कहता है यन्मनसा न मनुते- उसका तात्पर्य है कि मन में कोई सामर्थ्य नहीं है वह आत्मशक्ति के प्रकाश से संयुक्त होने पर ही कुछ चिन्तनादि कर सकता है। दूसरी ओर कठोपनिषद् की उक्ति का तात्पर्य है कि मन ज्ञान का प्रमुख माध्यम है क्योंकि यदि मन विषय से संयुक्त नहीं होता है तो ज्ञान नहीं हो पाता है, आत्मज्ञान भी मन के माध्यम से ही प्राप्त होता है। किन्तु एक सीमा पर आकर जब भौतिक मन असमर्थ हो जाता है तब आत्मा स्वयं अपने प्रकाश से प्रकाशित होता है। प्रत्यक्ष की प्रक्रिया में विषय- इन्द्रिय-मन-बुद्धि और आत्मा सभी संयुक्त होते हैं इनमें से एक के भी अनुपस्थित रहने पर प्रत्यक्ष ज्ञान प्रकट नहीं हो सकता है। आत्मतत्त्व को जानना जीवन का अन्तिम ध्येय है[4] और इसे जानने में मन भी एक सशक्त माध्यम होता है। इसी उपनिषद् में अन्यत्र कहा गया है 'न सदृशे तिष्ठति रूपमस्य, नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा।[5] इन्द्रियाँ भौतिक तत्वों से निर्मित हैं वे 'चेतना' तत्त्व को जानने में कैसे समर्थ हो सकती हैं।

बृहदारण्यक उपनिषद् में चेतना को 'ज्योतिषां ज्योति':[6] कहा गया है। ज्ञान प्रक्रिया के सम्बन्ध में ऋषि का कथन है- येनेदं सर्व विजानाति त केन विजनीयात।[7] जो ज्ञाता है वही यदि ज्ञेय हो जाये तो ज्ञाता कौन होगा? उसे जानेगा कौन और कैसे? यह एक कठिन पहेली है जिस पर प्रायः सभी उपनिषदों ने चिन्तन किया है।

चेतना की भी दो कोटियाँ हो जाती हैं। चेतना का

अर्थ चरम आधिभौतिक चेतना हो सकता है जो कि अपरिवर्तनशील (और अमर) है[8] अथवा मनोवैज्ञानिक और परिवर्तनशील चेतना भी हो सकता है, जो निरन्तर लुप्त और प्रगट होती है। भारतीय दर्शन की मान्यता है कि केवल अपरिवर्तनशील अथवा परिवर्तनशील चेतना के तत्व अनुभव का आधार नहीं बन सकते हैं अपितु इन दोनों के मध्य आधारभूत एकत्व ही अनुभव का आधार है और उसी के अन्तर्गत विषय और विषयी, द्रष्टा और दृश्य, भोक्ता और भोग्य में भेद किया जा सकता है। अपरिवर्तनशील चेतना अक्रियात्मक चितसत्ता- रूप में वर्तमान है और परिवर्तनशील चेतनावस्था अहम् और वैयक्तिकता की पूर्व कल्पना के समान है।

निरपेक्ष चेतना - प्रथम कोटि की निरपेक्ष चेतना है, इसमें चितिशक्ति से तादात्म्य रखने वाली चेतना की एक अविच्छिन्न धारा प्रवाहित रहती है। यह चेतना सर्वगत एवं विभु है। चेतना में गहन निद्रा, स्वप्न एवं जाग्रत तीन अवस्थायें सम्मिलित हैं। प्रगाढ़ निद्रा में पृथक्करण की कोई चेतना नहीं होती है। इसी से निद्रा एवं मूर्च्छा में किसी प्रकार का ज्ञान नहीं होता है, जबकि अन्य दो अवस्थाओं में अर्द्ध अथवा पूर्ण चेतना रहती है। प्रश्न उपस्थित होता है, क्या निद्रा अथवा मूर्च्छा में हमारी चेतना पूर्णतः लुप्त हो जाती है? भारतीय विचारकों ने इसका उत्तर उपनिषद्-काल में ही ढूँढ लिया था। उन्होंने एक उदाहरण दिया कि सोकर उठने के पश्चात् व्यक्ति कहता है- मैं सुखपूर्वक सोया, मेरा मन प्रसन्न है।"[9] यदि सुषुप्ति में कोई चेतना नहीं रहती है तो सुखपूर्वक अथवा कष्टपूर्वक सोने का अनुभव कैसे होता है? इससे सिद्ध होता है कि चेतना की अविच्छिन्न धारा टूटती नहीं अपितु जन्म से मृत्यु पर्यन्त एक-सी चलती रहती है। मृत्यु के समय उसका सम्बन्ध शरीर से विछिन्न हो जाता है। जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति ये उस पारमार्थिक चेतना के स्तर हैं, जो चेतना के स्वयं के नहीं हैं अपितु अहंकार द्वारा उद्भासित होते हैं।

सापेक्ष चेतना - दूसरी कोटि की चेतना का हम नित्य प्रति अनुभव करते हैं जिसके कारण हम अपनी समस्त क्रियाओं के प्रति जागरूक रहते हैं। इसे हम सामान्य रूप से जाग्रद्वस्था की मानसिक स्थिति समझते हैं, जिसके साथ इच्छित क्रियाओं की शक्ति समन्वित है। इसे मन का एक परिणाम भी माना जाता है क्योंकि जहाँ मन नहीं होता वहाँ चेतना भी नहीं होती। यह जीवन और क्रियाशक्ति का परिणाम है। इस प्रकार की चर्चाओं से उपनिषद् ग्रन्थ भरे पड़े है चेतन अवस्था में ज्ञान प्राप्त होने का तात्पर्य यह होता है कि ज्ञान, उसका स्वरूप ही है क्रिया नहीं।[10]

मन - भारतीय औपनिषद् साहित्य में एक रूपक प्रसिद्ध है जिसके अनुसार यह शरीर रथ है, इन्द्रियाँ उसमें जुते घोड़ों के समान हैं, आत्मा उस रथ का स्वामी है, बुद्धि सारथी और मन लगाम।[11] इस रूपक के माध्यम से यह स्पष्ट है कि मन रूपी लगाम के कसने से इन्द्रिय रूपी घोड़े नियन्त्रण में रह सकते हैं। मन पर बुद्धि का शासन चलता है। शरीर रथ के सुचारु परिचालन के लिये इन्द्रिय-मन-बुद्धि का परस्पर सामञ्जस्य पूर्वक संयोजन अत्यावश्यक है। मन दश इन्द्रियों से भिन्न ग्याहरवीं अन्तरिन्द्रिय है। कठोपनिषद्[12] के ही एक अन्य मन्त्र में इन्द्रिय मन बुद्धि आत्मा की क्रमशः उत्तरोत्तर प्रधानता प्रदर्शित की गई है। इसके अनुसार शरीर पूर्णतः भौतिक है, इन्द्रियों भौतिक जगत से सम्बद्ध हैं किन्तु उनके विषय-शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि सूक्ष्म हैं। मन इनसे भी सूक्ष्म है। वाजसनेय संहिता में मनस प्रत्यय को मानस तत्त्व के रूप में व्याख्यायित किया गया है। इस संहिता में मन के शरीर से बाहर जाने का वर्णन है अतः वह भौतिक इन्द्रिय नहीं है, यह सिद्ध होता है अन्यथा वह शरीर से बाहर कैसे जाता।[13] ऐतरेयारण्यक में मन का, और अधिक विशद् विश्लेषण प्राप्त होता है। उसके दूसरे अध्याय में मानव को दूसरे प्राणियों से श्रेष्ठ कहा गया है क्योंकि वह भविष्य की कल्पना कर सकता है और अतीत

को स्मरण रख सकता है। हमारी देह मनोवृत्तियों एवं संवेगों से संचालित होती है। शरीर वही करता है, जैसा मन सोचता है। अतः भृगुवल्ली का ऋषि कहता है-- मन से ही ये जीव उत्पन्न होते हैं।[14] मैत्रायणी उपनिषद् में लिखा है- "मनुष्य मन से ही देखता है और मन से ही सुनता है। काम, संकल्प, विचिकित्सा, श्रद्धा-अश्रद्धा सब मन ही है[15] इस प्रकार उपनिषद् साहित्य में इन्द्रियों पर मन की प्रधानता बताते हुए विभिन्न मानसिक दशाओं को मन का विकार कहा जाता है। ऐतरेय उपनिषद्[16] में भी एक स्थल पर षोडश मनोदशाओं का उल्लेख हैं। वे हैं- संज्ञान, अज्ञान, विज्ञान, प्रज्ञान, मेधा, दृष्टि, धृति, मति, मनीषा, जुति, स्मृति, संकल्प, क्रतु, असु, काम और वश। इसी प्रकार संकल्प नामक मनोदशा की प्रशंसा की गई।[17] फिर संकल्प से श्रेष्ठ चित्त कहा गया है।[18] उपनिषद् साहित्य में मन के कई प्रकारों की भी चर्चा हुई है। यथा -

1. दैवमन - इसे दैव अर्थात ज्ञानेन्द्रियों का स्वामी कहा गया। आत्मा और बुद्धि तो शरीर से बाहर नहीं जा सकते, अतः इन्द्रियाँ विषयों तक जाती हैं। मन ज्ञान-तन्तुओं के द्वारा उन्हें प्रेरित करता है और नियन्त्रण भी रखता है। यह सत्त्व प्रधान होता है। दैवमन का जागते समय दूर तक उदय होता है।[19] ज्ञान के विषय पर दैवमन का पूरा योग होना चाहिये।

2. यक्षमन - यह कर्मेन्द्रियों का अधिकारी है इसमें रजोगुण प्रधान होता है। अतः यह गति का केन्द्र है।

3. प्रज्ञान - मन का जो भाग मस्तिष्क में रहता हुआ काम करता है, उसे प्रज्ञान अथवा बुद्धि कहते हैं। ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा जो विषय प्रकाश में आया करते हैं, तर्क की कसौटी पर रखकर उनकी परख मन के इसी प्रकाशमय लोक में हुआ करती है।

4. चेतसमन - चित्त अन्तःकरण का वह भाग है जिस पर दैवमन के क्षेत्र में हुये अनुभवों और यक्षमन के क्षेत्र में होने वाले कर्मों के संस्कार अंकित रहते हैं। यह मस्तिष्क में रहते हुए, अनुभूत विषयों का स्मरण करता है।

5. धृतिमन - मन का पाँचवाँ प्रकार धृति है। यह आत्मा के बोध के अभाव में भी अनेक विषयों, इन्द्रियों तथा क्रियाओं को धारण किये रहता है। सम्भवतः इसी से इसका नाम धृति पड़ा है। इसके तीन भाग हैं। ये भाग व्यापृत या उदबुद्ध मन के हैं अर्थात् इनकी क्रियायें आत्मा के नियन्त्रण में होती हैं।

प्रत्यग्भान - धृतिमन के सत्त्वप्रधान होने पर जब आत्मा की आभा उसमें आपतित होती है, तब प्रत्यग्भान अथवा अहंकार उत्पन्न होता है। सांख्य सम्मत सृष्टिव्युत्पत्ति का सिद्धान्त इससे प्रभावित प्रतीत होता है। प्रत्यग्भान आत्मिक विभूतियों का केन्द्र है।

विश्वमान - यह ईश्वरीय विभूतियों का केन्द्र हैं। विश्वमान मन में सत्त्व पुरुषान्यताख्याति प्राप्त हो जाने पर मनुष्य नितान्त प्रसन्न दिखलाई पड़ता है।

वशीकरण - नियन्त्रण की शक्ति आने पर वशीकरण होता है। वशीकरण मन की दशा वह है जबकि मन लक्ष्य-बेधन के समय से पूर्व अपने बाण को लक्ष्य की ओर बिल्कुल साध चुका होता है।

भृगुवल्ली में वरुण ने भृगु को आत्म-विषयक उपदेश देकर तपस्या करने हेतु आदेश दिया। एक बार तप करके भृगु ने जाना कि मन से ही पञ्चमहाभूत उत्पन्न हो रहे हैं चेतन वस्तुएं मन के कारण जीवित रहती हैं और अन्त में मन में ही लीन हो जाती हैं।

प्रकृति की परमाणु से भी सूक्ष्मतर अवस्था होती है, महत्तत्व या महान, विचार शक्ति । सूक्ष्मतर से सूक्ष्मतम मन मनोमय है। ब्रह्मवल्ली में ऋषि का कथन है कि अन्तरात्मा मनोमय है, यह प्राणमय से भिन्न है, यह मन की अवस्थाओं का समूह है।[20] आत्मप्रकाश से परिपूर्ण होने के कारण यही आत्मा है। सूक्ष्म शरीर मनोमय से परिपूर्ण है, इसका आकार

भी स्थूल शरीर के आकार जैसा ही होता है। उत्पत्ति की प्रक्रिया में जब हृदय बना तब मन उसी से उत्पन्न हुआ और मन से चन्द्रमा की उत्पत्ति हुई।[21]

चित्त - छान्दोग्योपनिषद्[22] के अनुसार चित्त अथवा साक्षी आत्मा संकल्प से श्रेष्ठ है। चित्त का अस्तित्व संकल्प पर संयम करता है। मनुष्य जब चिन्तन करता है तभी संकल्प करता है, प्रथम स्फुरण चित्त में होता है, फिर मनन करता है तदन्तर वाणी को प्रेरित करता है ये संकल्पादि चित्त के आश्रित हैं, चितरूप है और चित्त में प्रतिष्ठित है। इसी कारण जब कोई व्यक्ति अचित्त अथवा उन्मत्त हो जाता है तो उसे 'वह नहीं है'- ऐसा ही लोग जानने लगते हैं और सोचते हैं कि यदि स्मरण करता होता तो इस प्रकार चेतनारहित न होता। इसलिये चित्त ही सकल्पादि का आश्रय है। चित्त आत्मा है। ऋषि ने नारद को चित्त की आराधना करके प्रसुप्त चेतनसत्ता को प्रबुद्ध करने का आदेश दिया है।

ध्यान - ध्यान चित्त से महान है। पृथ्वी ध्यान करती हुई सी प्रतीत होती है। अन्तरिक्ष ध्यान कर रहा है, सौर लोक मानो ध्यान कर रहा है। प्रकृति का सारा विकास सृष्टिकर्त्ता के नियम में नियत रूप से निश्चल है। उपनिषद[23] कहते हैं- वह जो ध्यान को महान जानकर ब्रह्मोपासना करता है, जहाँ तक ध्यान की गति है वहाँ तक उसका स्वच्छन्द संचार होता है, ध्यान करके हम आत्मतत्व को जान सकते हैं। इसी कारण कहा गया है कि "मनसैवानुद्रष्टव्यम्- बृहदारण्यक"[24] के अनुसार तीन वस्तुएँ आत्माधीन होनी चाहिये- मनस, वाणी और प्राण। यदि हमारा ध्यान कहीं अन्यत्र है तो हम देखते हुए भी नहीं देखते हैं- सुनते हुए भी नहीं सुनते हैं।

कठोपनिषद्[25] में यह बात कही गयी है कि व्यक्ति अपने आत्मा को नहीं जान सकता जब तक कि उसका मन (ध्यान) स्थिर न हो। जो व्यक्ति अशान्त चञ्चल और अस्थिर मन का होता है वह जागतिक वस्तुओं को ही नहीं जान पाता है, आत्मज्ञान के लिये तो उससे भी बहुत गहरे ध्यान की आवश्यकता होती है।

उपासक अपने मन को परमात्मा के प्रकाशमय स्वरूप में संयुक्त करते हैं- अपनी इन्द्रियों, मन, सब कुछ उसी के ध्यान में लगा देते हैं। युञ्जते मन उत युञ्जते धियो, विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः। वि होत्रा दधे वयुनाविदेक इन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः[26]।

श्वेताश्वतर उपनिषद् में ध्यान को बड़े अच्छे उदाहरण से समझाया है जिसके अनुसार उपासक अपने शरीर को नीचे की अरणि के रूप में कल्पना करे और प्रणव को ऊपर की अरणि माने, फिर ध्यानरूपी निर्मथन का अभ्यास करके काष्ठ में छिपी अग्नि के समान परमेश्वर को देखें।[27] जैसे तिलों में तेल, दही में घी, स्रोतों में जल और अरणियों में अग्नि रहती है वैसे ही आत्मा में परमात्मा का वास है जिसे अन्तर्मुख ध्यान से जाना जाता है[28] शिवसंकल्प सूत्र में अवधान के अभ्यास हेतु उपाय भी बताया गया है। ध्यान की गहराइयों में साधक के उतर जाने के बाद समाधि की स्थिति बनती है। श्रुति का कथन है कि शान्त और वैरागी ज्ञानार्थी समाधि के द्वारा आत्मा में आत्मा को देखता है।[29]

मन की अवस्थायें - जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति। माण्डूक्य उपनिषद् में एक जगह ऊँकार का अर्थ समझाते हुए उसकी जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति की अवस्थाओं से तुलना की गयी है। ऊँकार अ-उ-म इन तीन अक्षरों का संयोग होता है। इसमें अकार को जाग्रत अवस्था- वैश्वानर बताया गया है- यह अकार प्रथम पाद- प्रथम मात्रा है जो सर्वत्र सुलभ है। जागरित स्थानो वैश्वानरोऽकारः प्रथम मात्राऽऽ त्पेरादि मत्वाद्वाऽऽप्नोति ह वै सर्वान् कामानादिश्च भवति य एवं वेद ।।[30]

आधुनिक मनोविज्ञान में इन अवस्थाओं की चर्चा हुई है विशेषकर स्वप्न की। फ्रायड ने स्वप्नों को मनुष्य के अवचेतन मन में निहित अवदमित इच्छाओं

की पूर्ति करने वाला बताया है। भारतीय दर्शनों में विशेषकर योगवासिष्ठ आदि में इनका पर्याप्त अध्ययन हुआ है। आत्मचित्त घोर-शान्त-मूढ़ भेद से तीन प्रकार का कहा गया है।[31] घोर जाग्रन्मय है, मुमुक्षु की दृष्टि से जाग्रत को मिथ्या होने के कारण घोर कहा जा सकता है। जाग्रदवस्था में मन की प्रधानता एवं संकल्प की प्रमुखता पायी जाती है। मन संसार से अत्यन्त सम्बद्ध है। अतः जाग्रत् अवस्था को मन की भूमि मानना अनुचित नहीं होगा।

ऊँकार की व्याख्या करते हुए माण्डूक्योपनिषद् में स्वप्नावस्था और तेजस से उकार की तुलना की है। जो कि द्वितीय मात्रा है - स्वप्नस्थान तैजस उकारो द्वितीया मात्रोत्कर्षादुमयत्वाद्वोत्कर्षति ह वै ज्ञान संतति समानश्च भवति।[32] स्वप्नमय चित्त को शान्त कहा गया है। जब इस संसार की वेदना ज्वालायें निर्वापित होने लगती हैं तब स्वप्नावस्था होती है अतः वह शान्त है। स्वप्न का निर्माण स्मृति विशेष से ही होता है और चित्त संस्कार भूमि है। अतः स्वप्न में चित्त की प्रधानता है। भारतीय विचारधारा में स्वप्न की घटना जीवात्मा की स्वतन्त्र रचना नहीं है, वह तो निमित्त मात्र है। वास्तव में सब कुछ जीव के कर्मानुसार उसकी शक्ति से ही होता है।

जब बुद्धि और मन सुषुप्ति के कारण अभिभूत होते हैं, तब उनके बिना अहंकार वासनाओं का ज्ञान नहीं कर सकता है। अतः अहंकार की दृष्टि से सुषुप्ति मूढ़ावस्था है। सुषुप्ति में स्वप्न-दृश्य का अभाव हो जाता है।[33] उस समय जीवात्मा को संसार रूपी प्रपञ्च के उपभोग से विश्राम मिलता है तथा शरीर और इन्द्रियों की थकावट दूर हो जाती है। इस अवस्था में जीवात्मा की स्थिति कैसी है तथा जीवात्मा कहाँ रहता है इस विषय में श्रुति कहती है - जब जीव सुषुप्ति अवस्था को प्राप्त होता है तब कुछ भी नहीं जानता। इसके शरीर में जो बहत्तर हजार हिता नाम की नाड़ियाँ हृदय से निकल कर समस्त शरीर में व्याप्त हो रही हैं, उनमें फैलकर यह समस्त शरीर में व्याप्त हुआ शयन करता है।[34] अन्य उपनिषदों में ऐसा भी कहा गया है कि ‘जब वह शयन करता हुआ किसी तरह का स्वप्न नहीं देखता और सब प्रकार से सुखी होकर नाड़ियों में व्याप्त हो जाता है, उस समय उसे कोई पाप स्पर्श नहीं कर सकते।[35] इसका तात्पर्य यह है कि उस समय अनजाने में जीव के शरीर की किसी क्रिया द्वारा किसी जीव की हिंसादि पाप, कर्म हो जाये, तो वह उसे नहीं लगता। कहीं ऐसा भी कहा है कि उस सुषुप्ति के समय पुरुष सत् से सम्पन्न होता है[36] एक स्थान पर ऐसा भी वर्णन आया है कि- उस समय परमात्मा के स्पर्श को प्राप्त हुआ यह जीवात्मा न तो बाहर की किसी वस्तु को जानता है और न शरीर के भीतर की ही किसी वस्तु को जान पाता है।[37]माण्डूक्य उपनिषद् के अनुसार यह उँकार की तीसरी मात्रा मकार है -- सुषुप्तस्थानः प्राज्ञोमकारस्तु तृतीया मात्रा मितेरपीते र्वा मिनोति ह वा इदं सर्वमपीतिश्च भवति य एवं वेद।[38]

मानव के सारे कार्य सुखप्राप्ति के लिये होते हैं, यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है। सुख की इच्छा को पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक भी एक मूल प्रवृत्ति के रूप में मानते हैं। प्रसिद्ध विद्वान् गैस्टाल्ट के अनुसार ‘अतीन्द्रिय सुख की इच्छा’ मनुष्य की प्रधान मूल प्रवृत्ति है किन्तु मनुष्य उस सुख की प्राप्ति का साधन नहीं जानता है और अन्य प्रवृत्तियों की सन्तुष्टि करके उस अलौकिक सुख को ढूँढता है। वस्तुतः यह कथन भ्रान्त है। उपनिषदों में स्थान- स्थान पर महान् सुख और उसकी प्राप्ति के साधन वर्णित हैं। छान्दोग्य उपनिषद्[39] में महानतम् और परम सुख को भूमा कहा है, यही वास्तविक सुख है अल्प में (इन्द्रियजन्य सांसारिक सुखों में) सुख नहीं है, यह भूमा वह अवस्था है, जिसमें आत्मा अन्य वस्तु को नहीं देखता, अन्य शब्द को नहीं सुनता और अन्य पदार्थ को नहीं जानता है। यह निरपेक्ष आत्मपद जिसमें वह अपनी महिमा में स्थिर होता है भूमा कहलाता है। अन्य समस्त सुख अल्प और नाशवान् हैं। ऐसे ही अनेक

विषय उपनिषद् साहित्य में भरे पड़े हैं। सभी विषयों का विशद विश्लेषण करने के लिए एक स्वतन्त्र पुस्तक की अपेक्षा है। यहां तो उपनिषदों के मनस्तत्त्व विवेचन का संक्षिप्त दिग्दर्शन कराके शोधार्थियों एवं जिज्ञासुओं के लिए एक संकेत भर दे दिये हैं।

संदर्भ

1. अन्नमयं हि सोम्य मनः। छा. 6.5.4। **2.** यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनोमतम्--- केन। **3.** मनसैवेदमवाप्तव्यं नेह नानास्ति किञ्चन । कठ. 4 /11। **4.** आत्मा वा अरे दृष्टव्यः निदिध्यासितव्यः। बृहदा. 2.4.5। **5.** न सदृशे तिष्ठति रूपमस्य, नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा। कठो. 6/12। **6.** ज्योतिषां ज्योतिः। बृहदा. 16 / 4। **7.** येनेदं सर्व विजानाति तं केन विजानीयात्। बृहदा 4.5.15 तथा शिवसंकल्प सूत्र यजु. 34-1-1। **8.** असङ्गोह्यं पुरुषः। बृहदा. 4/3/15। **9.** सुखमहमस्वाप्सं न किञ्चिदवेदिषम। पात. योग सूत्र 1-10 का व्यासभाष्य। **10.** आत्मनः सत्ता मात्रं एवं ज्ञानकर्तृत्वम् न तु व्यापृततया, यथा सवितुः सत्ता मात्रं एव प्रकाशनकर्तृत्वम्। छान्दो 8-1-25 पर शांकरभाष्य। **11.** आत्मानं रधिनं विद्धि-- कठ. 1-3-3 तथा 1-3-4। 1**2.** कठ. 1-3-10-11। **13.** वाजसनेय संहिता। **14.** भृगुवल्ली 1 / 4। **15.** मैत्रायणी उप. 4-30। **16.** एतरेय उप. 3-2। **17.** छान्दो 7/4/2। **18.** चित्तो वाव संकल्पाद भूयः-- छान्दो. 7-5-1। **19.** यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैव तदु सुप्तस्य तथैवेति शुक्ल यजु. 34-1-1। **20.** ब्रह्मवल्ली-अनुवाक 3। **21.** यथा वै चेतयतेऽथ संकल्पयतेऽथ मनस्यत्यथ वाचमीरयति -छान्दो. 7-5-1। **21.** चन्द्रमा मनसो जातः - पुरुषसूक्त। **22.** छान्दो 7-5-2। **23.** छान्दो 7-6-12। **24.** बृहदा. 1-4-19। **25.** नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्ते नासमाहितः, ना शान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्। कठो. 2/25। **26.** युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः। वि होत्रा दधे वयुनाविदेक इन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुति। श्वेताः 2/4। **27.** श्वेता. 2/ 14। **28.** श्वेता. 2/15। **29.** श्वेता. 1/3। **30.** माण्डूक्य उप. 9--जागरित स्थानो....। **31.** योगवासिष्ठ 124-36-38। **32.** माण्डूक्य 10 स्वप्नस्थान तैजस....। **33.** तदभावो नाडीषु तच्छुतेरात्मनि च - बृहदा. 3-2-7। **34.** वही 2-1-19। **35.** छान्दो 8.6.3। **36.** वही 6.8.1। **37.** बृहदा. 4.3.21। **38.** माण्डूक्य 11 सुषुप्तस्थानः प्राज्ञोमकारस्तृतीया मात्रा मितेरणीतेर्वा। **39.** यो वै भूमा तत्सुरवम् नाल्पे सुखमस्ति। भूमैव सुखम् छान्दो 7-23-24।

संकेत सी-89, गोविन्द पुरी, घाटीपुर
ग्वालियर (म.प्र.)- 474011
मो.- 8989701156

बंकिमचंन्द्र डिप्टी मजिस्ट्रेट के पद के लिए साक्षात्कार हेतु गये थे। इसके पूर्व नियम के अनुसार उन्होंने बांग्ला भाषा की परीक्षा दी थी। साक्षात्कार के समय उनके सामने बैठे अधिकारियों में एक अंग्रेज अधिकारी भी थे। उन्होंने बंकिमचन्द्र से प्रश्न किया- वेल, व्हाट इज द डिफरेंस विटविन 'विपद' एण्ड 'आफत'? बंकिमबाबू बोले, एक उदाहरण देकर बताता हूं, पद्मा नदी में एक बार नाव पर यात्रा कर रहा था, तभी जोर वृष्टि शुरू हो गयी, यह हुई विपद और आज जब एक बंगाली होते हुये मुझे आप जैसे अंग्रेज के सामने बांग्ला भाषा की परीक्षा देनी पड़ रही है यह हुई आफत।

नासदीयसूक्त के सात मंत्र एवं बाइबिल के सात दिन

डॉ. गोपाल शर्मा

बाइबिल के पुराने विधान (ओल्ड टेक्सामेंट) के तौरेत, जिसे पंचग्रंथ भी कहा जाता है, के उत्पत्ति ग्रंथ में विश्व और मानव जाति की उत्पत्ति के विषय में कहा गया है- प्रारंभ में ईश्वर ने स्वर्ग और पृथ्वी की सृष्टि की। पृथ्वी उजाड़ और सुनसान थी। अथाह गर्त पर अंधकार छाया हुआ था और ईश्वर का आत्मा सागर पर विचरता था। ईश्वर ने कहा प्रकाश हो जाये और प्रकाश ही गया। ईश्वर को प्रकाश अच्छा लगा और उसने प्रकाश और अंधकार को अलग कर दिया। ईश्वर ने प्रकाश का नाम 'दिन' रखा और अंधकार का नाम रात। संध्या हुई और फिर भोर हुआ, यह पहला दिन था।

ईश्वर ने कहा - पानी के बीच एक छत बन जाये, जो पानी को पानी से अलग कर दें, और ऐसा ही हुआ। ईश्वर ने एक छत बनायी और नीचे का पानी और ऊपर का पानी अलग कर दिया। ईश्वर ने छत का नाम 'आकाश' रखा। संध्या हुई और फिर भोर हुआ यह दूसरा दिन था।

ईश्वर ने कहा, आकाश के नीचे का पानी एक ही जगह इकट्ठा हो जाये और थल दिखायी पड़े", और ऐसा ही हुआ। ईश्वर ने थल का नाम "पृथ्वी" रखा और जल-समूह का नाम 'समुद्र'। और यह ईश्वर को अच्छा लगा। ईश्वर ने कहा, पृथ्वी पर हरियाली लहलहाये बीजदार पौधे और फलदार पेड़ उत्पन्न हो जायें, जो अपनी-अपनी जाति के अनुसार बीजदार फल लायें", और ऐसा ही हुआ। पृथ्वी पर हरियाली उगने लगी : अपनी-अपनी जाति के अनुसार बीज पैदा करने वाले पौधे और बीजदार फल देने वाले पेड़। और यह ईश्वर को अच्छा लगा। संध्या हुई और फिर भोर हुआ, यह तीसरा दिन था।

ईश्वर ने कहा, "दिन और रात को अलग कर देने के लिये आकाश में नक्षत्र हों। उनके सहारे पर्व निर्धारित किये जायें और दिनों तथा वर्षों की गिनती हो। वे पृथ्वी को प्रकाश देने के लिये आकाश में जगमगाते रहें"। और ऐसा ही हुआ। ईश्वर ने दो प्रधान नक्षत्र बनाये, दिन के लिये एक बड़ा और रात के लिये एक छोटा, साथ-साथ तारे भी। ईश्वर ने उनको आकाश में रख दिया, जिससे वे पृथ्वी की प्रकाश दें, दिन और रात का नियंत्रण करें और प्रकाश तथा अंधकार को अलग कर दें। और यह ईश्वर को अच्छा लगा। संध्या हुई और फिर भोर हुआ, यह चौथा दिन था।

ईश्वर ने कहा, पानी जीव-जन्तुओं से भर जाये और आकाश के नीचे पृथ्वी के पक्षी उड़ने लगें। ईश्वर ने मकर और नाना प्रकार के जीव-जन्तुओं की सृष्टि की, जो पानी में भरे हुए हैं और उसने नाना प्रकार के पक्षियों की भी सृष्टि की, और यह ईश्वर को अच्छा लगा।.... संध्या हुई और फिर भोर हुआ, यह पांचवां दिन था।

ईश्वर ने कहा, "पृथ्वी नाना प्रकार के घरेलू, ज़मीन पर रेंगने वाले और जंगली जीव-जन्तुओं को पैदा करे", और ऐसा ही हुआ। ईश्वर ने नाना प्रकार के जंगली, घरेलू और जमीन पर रेंगने वाले जीव-जन्तुओं को बनाया। और यह ईश्वर को अच्छा लगा।

ईश्वर ने कहा, "हम मनुष्य को अपना प्रतिरूप बनायें, वह हमारे सदृश हो । वह समुद्र की मछलियों, आकाश के पक्षियों, घरेलू और जंगली जानवरों और ज़मीन पर रेंगने वाले सब जीव-जन्तुओं पर शासन करे"। ईश्वर ने मनुष्य को अपना प्रतिरूप बनाया, उसने उसे ईश्वर का प्रतिरूप बनाया, उसने नर और नारी के रूप में उनकी सृष्टि की । ईश्वर ने यह कह कर उन्हें आशीर्वाद दिया, फलो-फूलो, पृथ्वी पर फैल जाओ और उसे अपने अधीन कर लो। समुद्र की मछलियों, आकाश के पक्षियों और पृथ्वी पर विचरने वाले सब जीव-जन्तुओं पर शासन करो"। ईश्वर ने कहा, "मैं तुम को पृथ्वी भर के बीज पैदा करने वाले सब पौधे और बीजदार फल देने वाले सब पेड़ देता हूं। वह तुम्हारा भोजन होगा। मैं सब जंगली जानवरों को, आकाश के सब पक्षियों को, पृथ्वी पर विचारने वाले जीव-जन्तुओं को उनके भोजन के लिये पौधों की हरियाली देता हूँ"। और ऐसा ही हुआ। ईश्वर ने अपने द्वारा बनाया हुआ सब कुछ देखा और यह उसको अच्छा लगा। संध्या हुई और फिर भोर हुआ, यह छठा दिन था ।

इस प्रकार आकाश तथा पृथ्वी और जो कुछ उनमें हैं, सबकी सृष्टि पूरी हुई। सातवें दिन ईश्वर का किया हुआ कार्य समाप्त हुआ। उसने अपना समस्त कार्य समाप्त कर, सातवें दिन विश्राम किया....।[1] इसके बाद मनुष्य (पुरुष), स्त्री एवं जीवन-वृक्ष तथा भले बुरे के ज्ञान के वृक्ष की सुप्रसिद्ध कथा वर्णित है।

यहां यह भी जान लेना जरूरी है कि "बाइबिल एक पुस्तक नहीं, वरन अनेक रचनाओं का संकलन है। इनके रचना-कालों का विस्तार दस शताब्दियों से अधिक है। ये कई लेखकों की रचनाएं हैं, जिनकी मूल-भाषा कभी इब्रानी है, और कभी यूनानी है। शैली में भी भिन्नता है। इनमें कहीं ऐतिहासिक वृत्तान्त हैं, कहीं काव्य, कहीं नियमावली, कहीं उपदेश, कहीं पत्र, और कहीं जीवन चरित"।[2] बाइबिल शब्द बिब्लोस से व्युत्पन्न है, जिसका अर्थ पुस्तक है। "वर्तमान बाइबिल की तिहत्तर पुस्तकों में से छियालीस (अर्थात् बाइबिल की प्राचीनतम रचनाएं), ईसा मसीह के समय किसी न किसी रूप में विद्यमान थी"।[3]

सृष्टि उत्पित्त के सम्बन्ध में ऋग्वेद के सूक्त महत्वपूर्ण हैं, जिनमें नासदीयसूक्त (10.129), पुरुष सूक्त (10.90), हिरण्यगर्भ सूक्त (10.121), अस्य वामीयसूक्त (1.164), संज्ञानसूक्त (10.191) हैं। इनमें एक सूक्त प्रथम मंडल का है एवं अन्य दशम मंडल के हैं। नासदीय सूक्त में सृष्टि उत्पत्ति से पहले की अवस्था का वर्णन करके उसकी रचना का क्रम बताया गया है। सृष्टि उत्पित्त से पहले प्रलय दशा में असत् अर्थात् अभावात्मक तत्व नहीं था और सत्तात्मक तत्व भी नहीं था। पृथ्वी से लेकर पाताल पर्यन्त लोक नहीं थे। अंतरिक्ष नहीं था और अंतरिक्ष से परे भी जो कुछ है वह भी नहीं था। पुनः आवरण करने वाला तत्व क्या था? वह आवरण तत्व कहां था और किसकी संरक्षा में था ?

उस समय दुष्प्रवेश्य एवं अत्यन्त गहरा जल क्या था? अर्थात वे सब नहीं थे।[4] उस प्रलयकाल में मृत्यु नहीं थी और मृत्यु का अभाव (अमृत) भी नहीं था। रात्रि का और दिन का ज्ञान भी नहीं था। वह ब्रह्म तत्व ही प्राण से युक्त, अपनी क्रिया से शून्य और माया के

साथ अविभक्त एक रूप में विद्यमान था। उस मायासहित ब्रह्म से भिन्न कुछ नहीं था और उससे परे भी कुछ नहीं था।[5] सृष्टि के उत्पन्न होने से पहले यह जगत् अंधकार से आच्छादित था और यह जगत् अपने तमस् रूप मूल कारण में विद्यमान था। अज्ञायमान यह संपूर्ण जगत् उस समय सलिल रूप में था। अर्थात उस समय कार्य और कारण दोनों मिले हुए थे।[6] सृष्टि की उत्पत्ति होने के समय सबसे पहले काम अर्थात् सृष्टि उत्पन्न करने की इच्छा हुई, जो परमेश्वर के मन में सबसे पहला सृष्टि का बीज रूप कारण हुआ।[7] इन कारणों में सूर्य की किरण के समान बहुत अधिक व्यापकता का भाव विस्तृत था। यह सब पहले क्या तिरछा था या मध्य में विद्यमान था, क्या वह नीचे विद्यमान था अथवा क्या वह ऊपर विद्यमान था, अर्थात् वह सब स्थानों पर समान भाव से उत्पन्न हुआ।[8] यहाँ ऋषि प्रश्न करके जगत् के कारण को ही उत्तर में ज्ञाता बताता है। कौन इस बात को वास्तविक रूप से जानता है और कौन इस लोक में सृष्टि के उत्पन्न होने का विवरण बता सकता है कि यह विविध प्रकार की सृष्टि किस उपादान कारण से और किस निमित्त कारण से सब ओर से उत्पन्न हुई है। देवता भी इस विविध प्रकार की सृष्टि के उत्पन्न होने के बाद के हैं, अतः वे भी अपने से पहले की बात नहीं बता सकते। इसलिये कौन मनुष्य जानता है, जिस कारण से यह सारा संसार उत्पन्न हुआ है।[9]

यह विविध प्रकार की सृष्टि जिस प्रकार उपादान और निमित्त कारण से उत्पन्न हुई है, वही अर्थात् ईश्वर ही सृष्टि को धारण किये हुए है, उसके अतिरिक्त अन्य कोई धारण किये हुए नहीं है। इस सृष्टि का स्वामी ईश्वर उत्कृष्ट सत्य रूप आकाश सदृश अपने प्रकाश में या आनंद स्वरूप में प्रतिष्ठित है।[10]

हिरण्यगर्भ सूक्त में सृष्टि की उत्पित्त के विषय में कहा गया है कि सबसे पहले यह हिरण्यगर्भ परमात्मा ही था। वह उत्पन्न हुए सभी पदार्थों का अधिपति था। उसी ने पृथ्वी लोक और द्यु लोक को धारण किया हुआ है।[11] वही आत्मा का आविर्भाव करने वाला है और मृत्यु का देने वाला है। सब देवता उसी की उपासना करते हैं।[12] पुरुषसूक्त में पुरुष रूप परमात्मा के स्वरूप का वर्णन करने के साथ-साथ सृष्टि-उत्पित्त के रूप को भी बताया गया है। जो कुछ वर्तमान में है, भूतकाल में था और भविष्य में होगा, वह पुरुष ही है।[13] उस पुरुष से विराट और उससे अधिपुरुष की उत्पित्त हुई। उसी से संपूर्ण सृष्टि की रचना हुई।[14]

सृष्टि की उत्पत्ति के विषय में ऋवेद एवं बाइबिल में जो कहा गया है, उसमें ऋग्वेद के विचार अतिसूक्ष्म हैं एवं उनमें सृष्टि की उत्पति-पूर्व की स्थिति का भी वर्णन है। बाइबिल में सृष्टि प्रक्रिया के क्रम को सात दिनों में दर्शाया गया है, जो स्थूल है एवं चमत्कारिक अधिक लगता है- सातवें दिन ईश्वर ने अपना समस्त कार्य समाप्त कर विश्राम किया। बाइबिल में ईश्वर ने सर्वप्रथम स्वर्ग और पृथ्वी की उत्पत्ति की। पृथ्वी पर अंधकार छाया हुआ था। ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में सृष्टि-उत्पत्ति के पूर्व प्रलय दशा में न सत् था, न असत था। न लोक थे, न आकाश था। न गति भी न स्थान था। न जन्म था न मृत्यु थी और न अमृत था। न दिन था, न रात थी। वही एक मात्र परमेष्ठी सर्वशिक्तमान परमेश्वर अन्तश्चेतना के साथ निर्वात अवस्था में शांत रूप से वर्तमान था। उस समय कार्य एवं कारण दोनों मिले हुए थे। उसमें इच्छा का प्रादुर्भाव हुआ। और वही 'इच्छा' सृष्टि का बीज रूप कारण हुआ। वह स्वयं कहाँ से उत्पन्न हुआ, यह सृष्टि कहाँ से उत्पन्न हुई, देवता सृष्टि से पहले हुये या बाद में कौन जानता है? परमेश्वर ही सृष्टि का अध्यक्ष है।

ऋग्वेद में सृष्टि का बीज रूप कारण 'ईश्वरेच्छा' है। यही ईश्वरेच्छा बाइबिल में भी मिलती है। इसी इच्छा से ईश्वर ने छह दिन में सृष्टि की रचना की। वह छह दिनों तक सृष्टि करता गया और देखता भी रहा कि सृष्टि बराबर है या नहीं। छठे दिन उसने अपने

प्रतिरूप मनुष्य की रचना में नर-नारी बनाये। ईश्वर ने अपनी छह दिनों की सृष्टि में जो भी तत्व प्राणी बनाये, उस पर मनुष्य को शासन करने का अधिकार दिया। इसके बाद नर-नारी और ज्ञान के वृक्ष एवं उसके फल को खाने की वर्जित कथा वर्णित है।

बाइबिल ऋग्वेद के बहुत बाद की रचना है और सृष्टि की रचना के मूल में ऋग्वेद में जो ईश्वर-इच्छा है, वही बाइबिल में है।

संदर्भ

1. पवित्र बाइबिल, बाल्द-बुल्के (अनुवादक), सत्प्रकाशन इन्दौर, 1990 पृ. 4-5। **2.** वही, पृ. 9। **3.** वही, पृ. 9। **4.** ऋग्वेद 10.129.1। **5.** ऋग्वेद 10.129.2। **6.** ऋग्वेद 10.129.3। **7.** ऋग्वेद 10.129.4। **8.** वही, 10.124.5। **9.** वही, 10.129.6। **10.** वही 10.12। **11.** वहीं, 10.121.1। **12.** वही 10.124.2। **13.** वही, 10.90.2। **14.** वहीं, 10.90.5।

सहायक ग्रंथ :

1. ऋग्वेद, हिन्दीभाष्य, प्रथम मंडल, महर्षि दयानंद सरस्वती, आर्य प्रकाशन दिल्ली, 2008 । **2.** ऋग्वेद हिन्दी भाष्य, दशम मंडल, मर्हषि दयानंद सरस्वती, आर्य प्रकाशन, दिल्ली, 2008। **3.** पवित्र बाइबिल, अनुवादक बाल्द-बुल्के, सत्प्रकाशन, इंदौर, 1990। **4.** न्यू वैदिक सिलेक्शन, तेलंग एंड चौबे, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, 1986। **5.** ऋक्सूक्तसंग्रह, डॉ. हरिदत्त शास्त्री, डॉ. कृष्णकुमार, साहित्य- भंडार, मेरठ, 1996। **6.** वैदिक माइथोलोजी, ए. ए. मैकडॉनल, रामकुमार राय (अनुवाद) चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी 1961।

आचार्य, शाह
के.एस. आर्ट्स एंड
वी.एम. पारेख कॉमर्स कॉलेज,
निवास-28-29, योगीनगर सोसायटी-2
कपडवंज (जिला-खेड़ा) गुजरात-387620

●

प्रतिस्वर

वैचारिकी का सितंबर-दिसंबर 2021 भाग 37 अंक 5-6 आचार्य चतुरसेन शास्त्री कृत अर्थ भाष्यम् विशेषांक एक सप्ताह पूर्व मिला। तदर्थ धन्यवाद। वैसे तो मैं चिकित्सा विज्ञान का विद्यार्थी (चिकित्सक) हूँ किंतु पठन-पाठन और लेखन मेरे स्वभाव में है इसलिए वैचारिकी से मेरा अटूट संबंध जुड़ा हुआ है। मैंने यह अंक एक सप्ताह में पूरा पढ़ लिया। मुझे प्रसन्नता है कि ऐसे अच्छे विषय पर आचार्यजी की कृति को प्रकाशित किया। मैनें वैशाली की नगर वधू व सोमनाथ पढ़े है किंतु वयं रक्षामः नहीं पढ़ा। अर्थ भाष्यम् पढ़ लिया तो लगता है वयं रक्षामः की मूल भावना जानली। मुझे प्रसन्नता यह भी है कि मेरे विचार आचार्यजी के विचारों और शोध से साम्य रखते हैं। शोधार्थियों के लिए यह अंक उपयोगी सिद्ध होगा। आचार्यजी ने एक स्थान पर लिखा है कि रावण वध के उपरांत राम का सीता के प्रति कथन और उस प्रकरण का उल्लेख महाभारत में वर्णित कथा में नहीं है अतः यह रामायण में प्रक्षिप्त है। मेरे विचार से संभवतः ऐसा नहीं है। महाभारत और भागवत में भी रामकथा अति संक्षेप में है। जब कोई वृहत कथा किसी विद्वान द्वारा संक्षेप में लिखी जाती है तो वह विद्वान अपनी इच्छानुसार उसे काटछांट कर संक्षिप्त करता है। हो सकता है व्यास को राम द्वारा सीता को कहा गया कथन और उपस्थित देवगणों के आग्रह से राम द्वारा सीता को अंगीकार कर लेने की कथा इतनी महत्वपूर्ण न लगी हो जिसका उल्लेख वे महाभारत में करें, यह मेरा मानना है। विद्वानों के अपने-अपने प्रमाण और मत होते ही हैं। मैं यहां एक और बात की ओर संकेत करना चाहूंगा कि राम के मन में संदेह की ग्रंथि सदैव बनी रही। अयोध्या में राजतिलक के उपरांत कालांतर में लोक में सीता पर उंगली उठी तो राम ने सीता को वनवास देने में कोई हिचकिचाहट नहीं दिखाई। मुझे यह अंक पठनीय, रुचिकर और संग्रहणीय लगा। पुनः साधुवाद।

डॉ. भांकरलाल स्वामी
नत्थूसर गेट बाहर, लालीबाई बगेची से आगे
मुरलीधर व्यास नगर रोड, धन्नू साइकिल स्टोर के पास, बीकानेर-334004 राजस्थान,
मो.-7597743286

मूर्ति पूजा : एक चिन्तन

डॉ. ए. बी. शिवाजी

विश्व के प्रत्येक धर्म में अपने-अपने इष्ट देव की आराधना की जाती है यद्यपि कुछ धर्मों के अनुयायी मूर्ति पूजा करते हैं और कुछ धर्मों के अनुयायी मूर्ति पूजा में विश्वास नहीं करते। इस आलेख का अभिप्राय यह देखना है कि मूर्ति पूजा का आरम्भ कैसे और किन लोगों के द्वारा भारत के संदर्भ में किया गया। क्या मूर्ति पूजा भारत में पहले से ही थी अथवा मूर्ति पूजा अन्य स्थानों से आये लोग अपने साथ में लाये मूर्ति पूजा के प्रत्यय को भारत में स्थापित किया।

पांडु रंग वामन काणे अपने 'धर्म शास्त्र के इतिहास' के चतुर्थ भाग में कहते हैं कि यह सिद्धान्त पूजा एवं उपचार द्रविडों या अनार्यों से ग्रहण किये गये हैं, सिद्ध नहीं किया जा सकता और केवल कल्पनापरक है। वास्तव में मूर्ति पूजा स्वदेशोद्भव विकास है।[1] कुछ विद्वान आर्यों को मध्य एशिया से आना बताते हैं। डॉ. जे.एन रस्तोगी अपनी पुस्तक भारतीय धर्म एवं संस्कृति में लिखते हैं कि 'आर्य पहले मध्य एशिया में निवास करते थे।'[2]जैसे-जैसे इस पुस्तक को पढ़ते हुए आगे बढ़ते हैं रस्तोगी जी की यह पंक्तियां पढ़ने को मिलती है कि 'आर्यों का धर्म, धार्मिक विकास के प्रथम चरण में प्रकृति पूजा पर आधारित बहुद्वेववाद था इससे प्रभावित होकर अपने देवी-देवता मानकर सूर्य, चंद्र, आकाश, उषा, वायु आदि की उपासना करने लगे। यह मूर्ति पूजा लाक्षणिक थी।'[3]

मूर्ति पूजा और मूर्ति निर्माण कला के विषय में विद्वानों के दो मत है। प्रथम वर्ग के अनुसार वैदिक काल में प्रतिमा का पूजन एवं निर्माण नहीं होता था और दूसरे वर्ग के विचारक यह मानते हैं कि वैदिक युग में प्रतिमाओं की पूजा तथा निर्माण किया जाता था। प्रथम वर्ग में मैक्समूलर, विल्सन मेकडोनेल आते हैं। मैक्समूलर महोदय का कथन है कि वैदिक धर्म मूर्तियों से परिचित नहीं है। भारत में मूर्ति पूजा बाद में प्रचलित हुई। विल्सन महोदय विष्णु पुराण की भूमिका में स्पष्ट रूप से कहते हैं कि वैदिक कालीन उपासना काल्पनिक, भावात्मक एवं प्रतीकात्मक थी।[4] सांवलिया बिहारीलाल वर्मा का कथन है कि 'भारत में मूर्ति पूजा का आरम्भ कब हुआ किस आँचल में हुआ कहना मुश्किल है। विद्वानों का मत है कि सिंधु सभ्यता वाले प्रतीक पूजक थे।'[5] प्रो. कृष्णदत्त वाजपेयी, सागर विश्वविद्यालय का मत है कि भारतीय मूर्ति कला का आरम्भ भी सिन्धु उपस्त्यका की सभ्यता

से माना जाता है। मौर्यकाल से लेकर 13वीं शती के अंत तक मिट्टी, पाषाण, धातु, लकड़ी, हाथी-दाँत आदि की अगणित मूर्तियों का निर्माण हुआ। इनमें बौद्ध, जैन, वैदिक, पौराणिक देवी-देवताओं की संख्या बहुत बड़ी है। भक्ति के उन्मेष के साथ देव प्रतिमाओं के निर्माण में वृद्धि हुई तथा शुंग, कुषाण और गुप्त काल में मूर्ति कला का क्रमशः विकास हुआ। गुप्तकालीन मूर्तिकारों ने सौन्दर्य और अध्यात्म का समन्वय कर उसे अपनी कृतियों में शाश्वत रूप प्रदान किया।[6] यहां हम फिर यह कहना चाहेंगे कि प्राचीन वैदिक काल में मूर्ति पूजा होती थी कि नहीं इस विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता[7], आगे काणे जी का मत है कि मोहनजोदड़ों (सर जॉन मार्शल जिल्द पृ. 52-63) में लिंग पूजा के चिह्न मिले हैं। इनके अतिरिक्त लिंग मूर्तियां ईसा पूर्व पहिली शताब्दी के आगे नहीं प्राप्त हो सकी हैं। पाणिनी के बहुत पहिले से ही मूर्ति पूजा से उत्पन्न जीविका चलाने वाले प्रचलित हो चुके थे।

डॉ. जी. एम. बोनगार्ड लेविन का मत

विदेशी विद्वान डॉ. जी. एम. बोनगार्ड लेविन अपने आलेख 'ऑन दी प्रोबलेम ऑफ जेनिसीस ऑफ एशियन्ट इंडियन सिविलाइजेशन' में कहते हैं, ऋग्वेद की विधि से निर्णय करने पर हम यह पाते हैं कि देवी-देवताओं की मूर्ति-पूजा की कमी भारतीय आर्यों में पाई जाती है। देवताओं और देवियों की मूर्तियों को पूजने की विधि प्राचीन ईरानियों में भी अनुपस्थित थी। जिस को अवेस्ता से प्रमाणित किया गया है। एक सम्भावना की दृष्टि से कुछ अंश तक यह स्वीकार किया जा सकता है कि देवी देवताओं की मूर्तियों की पूजा जो हिन्दू धर्म में व्यापक रूप से फैली हुई है, ब्राह्मणवादी परम्परा में क्षेत्रीय अनार्यों सम्प्रदायों से आई। यहाँ शायद हड़प्पा के प्रभाव की ध्वनि ध्वनित होती है।

पूजा के विधि विधान में देवी-देवताओं को चढ़ावा पुष्प, पानी, वृक्ष के रूप में होता है। यह भी पूर्व आर्यों के विश्वास की ओर पीछे ले जाता है। महत्वपूर्ण बात यह है कि पूजा शब्द स्वयं में अनार्यों का उद्भव प्रकट करती है और स्पष्ट रूप से यह डाविडियन (द्रविड़) व्युत्पत्ति (Etymology) है।

आर.एन. खांडेकर के मत के अनुसार विस्तार से विश्लेषण करने पर पूर्ण आर्यों के प्रश्न की पूर्व आर्यों की हिन्दू धर्म की विशेषता इतिहास से अभिन्न है।[8]

प्रथम देवता कौन

प्रथम देवता कौन यह प्रश्न महत्वपूर्ण है। कहा जाता है कि हिन्दू धर्म, धर्म नहीं, जीवन शैली है। अतः अपने विकास के साथ-साथ धार्मिक मान्यताओं को लेकर अपने-अपने इष्ट देवताओं में परिवर्तन आते रहे। डॉ. जे.एन. रस्तोगी के मतानुसार प्रारम्भ में अग्निदेव, सोमदेव इत्यादी प्रमुखता से आये, परंतु बाद में वरूण और इन्द्र देवाधिदेव का पद प्राप्त हुआ।[9] जैसे- जैसे मानवीय विकास होता गया मनुष्य अपनी कल्पनाशीलता के आधार पर देवी-देवता की संख्या बढ़ाते गये और भारतीय धार्मिक इतिहास में एकेश्वरवाद के स्थान पर बहुदेववाद की स्थापना होती रही और अनुयायियों के विवेक में एक दूसरे के प्रति संकीर्णता एवं असहनशीलता उत्पन्न कर दी।

यज्ञों का प्रभाव देवताओं पर

आरम्भ में यज्ञों का ही प्रचलन था जब देवी-देवताओं की संख्या बढ़ने लगी तो चिन्तकों ने देवताओं को भी यज्ञों के अधीन बताना आरम्भ कर दिया। इसका अर्थ यह हुआ कि देवी-देवता आपने आप में शक्तिशाली नहीं हैं। रस्तोगी जी के कथन से यह स्पष्ट होता है कि 'देवता भी यज्ञों के अधीनस्थ माने जाने लगे। ऐसी धार्मिक धारणा प्रबल हो गई कि यज्ञों के यथाविधि सम्पादित होने पर देवताओं को भी झुकना पड़ता है।'[10]

वास्तव में हिन्दू मूर्ति पूजा का विषय एक जटिल प्रश्न है प्रत्येक मूर्ति पूजा की विधियां भी अलग-अलग समय में परिवर्तित होती गई, हिन्दू वास्तविक रूप से अज्ञेयवादी (Agnostic) है जो मनुष्य की

विवेक शक्ति में विश्वास नहीं करता, जिससे विश्व की शाश्वत उलझनों को सुलझाया जा सके। ये अपनी पूर्ण स्वतंत्रता में विश्वास करते हुए मानते हैं, चाहे वह अंधविश्वास हो कि जिसे भी वे ईश्वर समझे उसकी कल्पना कर उसमें आस्था रखे एवं उनकी पूजा अर्चना करें। वह यह भी जानना नहीं चाहता कि ईश्वर पुरुष (He) है, अथवा नारी (She) अथवा अजीव (It) है। वह अपने देवता की उपासना पिता, माता, बहिन, प्रेमिका, प्रेमी, मित्र और क्या नहीं के रूप में करता है। वह उसके सृजन को, बिना गुणों के कुछ समय के लिए पसन्द कर लेता है। वास्तविकता तो यह है कि यह देवता-प्रेम मंगोल जाति से, पहाड़ी जनजातियों से सूर्य की चमकती रोशनी और बर्फ से और अपने स्वयं के विवेक और हृदय से लिया है। उनका यह बहुदेववाद अथवा अधिदेववाद उसके अज्ञेयवाद पर ही निर्भर है।[11] धीरे-धीरे ब्रह्मा, विष्णु और महेश देवताओं को अपना लिया। ये त्रिमूर्ति कहलाये। कार्यों के अनुसार विभाजन कर दिया गया और वे पूजन के पात्र हो गये।

शिव पूजा

शिव अथवा महादेव कौन थे? काशी अथवा वाराणसी के संदर्भ में विद्वान काणे जी का मत है कि 'महाभारत एवं पुराणों में काशी एवं महादेव के विषय कहा गया है। विद्वानों ने कतिपय निष्कर्ष निकाले हैं कि महादेव अनार्यों के देवता थे। आर्यों के आगमन के उपरान्त बहुत काल तक वाराणसी अनार्यों का पूजन केन्द्र थी।[12] कहा जाता है कि शिव की पूजा कई देवताओं के गुणों का समावेश कर की जाती है। वैदिक काल के रुद्र को शिव का सबसे पहिला रूप माना गया। अथर्ववेद में शिव को महेश्वर कहा गया। श्वेताश्वतर में शिव को महादेव कहा गया। रामायण में शिव को अनेक नामों से संबोधित किया गया है - रुद्र, महादेव, पशुपतिनाथ तथा शंकर।[13] बताया जाता है कि शिव पूजा का ऐतिहासिक वर्णन हमें सर्व प्रथम मेगस्थनीज में मिलता है। शिव की मूर्ति को दूध से स्नान कराया जाता था, अन्य साधनों में आर्धपात्र, धूप, पात, पुष्प पट इत्यादि प्रधान थे। आगे चलकर शैव धर्म पांच समुदायों में बंट गया जिन्हें वैदिक पशुपति, तांत्रिक पशुपात, मिश्र, कालमुख एवं कापालिक नामों से जाना जाता है।

डॉ. एन्थोनी अपनी पुस्तक हिन्दू आध्यात्मिकता-धार्मिक व्रत त्यौहार में अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखते हैं कि 'शिव की अनेक मूर्तियां है जो उनके जीवन के एक दूसरे स्वरूप को प्रगट करती है। उनमें एक है पंचमुखी शिव जिनके पाँच मुख हैं, एक मुख सृष्टि के लिये, एक रक्षा के लिये, एक संहार के लिये, एक छिपाव के लिये और एक आशीष के लिये।[14] उन्होंने यह संदर्भ विदवेश्वर संहिता 10:2 एवं लिंग पुराण 2:14 से लिया है।

मूर्ति पूजा को विद्वानों ने अलग-अलग दृष्टि से देखा है। डॉ. विश्वनाथ सिंह अपने आलेख 'हिन्दुत्व का तात्विक लक्षण' में कुछ इस प्रकार कथन करते हैं कि हिन्दू मूर्ति पूजा को आवश्यक मानते हैं, लेकिन वे मूर्ति का अर्थ कुछ और लेते हैं। वे मूर्ति को निर्गुण, निराकार ब्रह्म से आबद्ध नहीं मानते हैं। वे तो हममें, तुझमें, खडगम ये सर्वत्र सर्वव्यापक शक्ति को समाहित मानते हैं। वे मंदिर में और प्रतिमा में ईश्वर को मानते हैं, तो देह-मन्दिर में भी उसे स्वीकार करते हैं। उनका आधार दर्शन तो वेदान्त दर्शन है जो सम्पूर्ण विश्व को मिथ्या मानता है, पर व्यावहारिक स्थिति में जीने वाले व्यक्ति के लिये बिम्बों प्रतीकों एवं मूर्तियों के सहारे सोचना, समझना एवं अभिव्यक्त करना बेहतर है।[15] इसके विपरीत भारतीय दार्शनिक संगमलाल पाण्डे की मान्यता अनुसार मूर्ति पूजा तक ही सीमित रहना साधक की कमजोरी है। इसका अतिक्रमण आवश्यक है क्योंकि सभी धर्म मूर्ति पूजा से शुरू करके विराट पूजा और फिर मौन पूजा का विधान करते हैं।[16]

विष्णु और उनके अवतारों की पूजा

विष्णु की पूजा दूर्वा घास से की जाने पर यह फल

देने में सहायक होती है (पद्म पुराण vi35,10.17)। कुछ भक्त तुलसी से विष्णु की आराधना करते हैं।[17] आजकल अधिकतर विष्णु के मानवीय अवतार राम और कृष्ण की पूजा की जाती है। इनके विषय में ई.डब्ल्यू हापकिन्स ने लिखा है कि 'विष्णु के अवतार रूप राम एवं कृष्ण पहिले उसके माध्यम से दिव्य नहीं थे, परन्तु अति मानव या अर्द्ध देवता के रूप में अपने अधिकारों के कारण दिव्य थे, फिर उनको इन अवतारों या ईश्वर के पार्थिव वंशजों की सूची में शामिल किया गया जो पृथ्वी पर पशु के भेष में प्रकट हो चुके थे, जैसे उस मछली के रूप में जिस ने मनु की रक्षा की थी तथा एक बानर के रूप में। प्रत्येक सन्दर्भ में यह ध्यान रखना चाहिए की अपनी सनक के कारण से नहीं अपितु अनुकम्पा के कारण ईश्वर पृथ्वी एवं उसके प्राणियों की शारीरिक विपत्ति या किसी नैतिक बुराई में सहायता करना चाहता था या उनकी सुरक्षा करना चाहता था भगवद्गीता एवं मूल रामायण के अंत तक परवर्ती काल में नायक कृष्ण एवं राम अभी भी स्वतंत्र ही थे, वे अभी विश्वआस्था के रूप में अभिव्यक्त नहीं हुए थे। वे अभी विश्वआस्था के रूप में या विष्णु की विश्व आत्मा के रूप में अभिव्यक्त नहीं हुए थे।

परंतु ईसा काल के कुछ पहिले ही इन प्राचीन नायकों के लोक प्रचलित चाटुकारों ने इनको विष्णु के मानक वंशजों (अवतारों) के रूप में लोगों द्वारा स्वीकार करवा दिया।[18]

पुराणों और संहिताओं में मूर्ति पूजा

भारत में हिन्दू धर्म पुराणों पर आधारित हैं जहां मूर्ति पूजन के विषय सामग्री उपलब्ध होती है। हम अधिक विस्तार में न जाकर इतना ही कहना चाहेंगे कि मूर्ति पूजा एक शोध का विषय है। इस पर चिन्तन होकर अंधविश्वास को मिटाने की आवश्यकता है। उज्जैन निवासी और भारतीय दर्शन के चिन्तक डॉ. ब्रज बिहारी निगम का मत है कि हिन्दू धर्म और सम्प्रदायों को जीवित रखने का श्रेय इन पुराणों को ही है। प्रत्येक समुदाय के अपने-अपने पुराण हैं।[19] वास्तव में भारत का हिन्दू जनसाधारण व्यक्ति अपने धार्मिक ग्रन्थों को नहीं जानता और धार्मिक कर्मकाण्डों को करने के लिये पुरोहितों को ही निमंत्रित किया जाता है।' सांवलिया बिहारीलाल वर्मा के मतानुसार 'पुराणों' के आधार पर भारतीयों की धार्मिक भावनाओं के अनुसार मूर्ति पूजा भले ही अनादिकाल से चली आ रही है किन्तु जहां तक ऐतिहासिक खोज का संबंध है इसका जन्म जैन और बौद्ध काल से पहले नहीं जाता है।[20] वराह मिहिर वृहत संहिता अध्याय 58, जिसमें बाहुबली, राम और विष्णु की मूर्ति, बलदेव एकानंशा, ब्रह्मा स्कन्द, शिव, गिरिजा (शिव की अर्द्धांगिनी), बुद्ध, जिन, सूर्य, मातृका, यम, वरुण एवं कुबेर की मूर्ति के उल्लेख हैं।

पांचरात्र का मत

भारतीय दार्शनिक डॉ. एस. आर. भट्ट ने पंचरात्र का सहारा लेकर अर्चा और प्रतिमा पूजन पर प्रकाश डाला है। वे इस विचार के हैं कि अर्चा और प्रतिमा पूजन में अन्तर है। प्रतिमा पूजन में प्रतीक केन्द्र में होता है। तब केन्द्र उस परिदृश्य से मिट जाता है और उसकी कोई आवश्यकता महसूस नहीं होती। अर्चा पूजा में भक्त भगवान की उपस्थिति महसूस करता है और वह अजीव मूर्ति में एक नये आशय को ग्रहण कर लेती है और वह प्रेम का, हृदय का और आंखों के संतोष की वस्तु हो जाती है। भट्ट ही व्याख्या संहिता V. 29-31 को उद्धृत करते हैं कि उस परम आत्मा को बिना ठोस विचार के नहीं जान सकते। अतः यह आवश्यक है कि एक मूर्ति के रूप में उसकी पूजा की जाये। वास्तव में हिन्दूओं ने मूर्ति पूजा द्वारा पारिवारिक जीवन, सामाजिक जीवन, संगीत, नृत्य, कविताएं, हिन्दू समुदाय का इतिहास सबको एक प्राचीन संस्कृति से जोड़ दिया है। युगों से अपनाये गये रीति-रिवाज, मंदिर, शिलालेख वे सब हिन्दू मूर्ति पूजा से सम्बद्ध हैं। इसका लाभ मूर्तिकारों एवं पुरोहितों को

प्राप्त हुआ एवं साथ ही जीवन उपार्जन का आर्थिक सहारा भी उन्हें प्राप्त हुआ और मूर्ति कला का विकास हुआ।[21]

भारत में सर्पपूजा

भारत में सर्प पूजा भी बहुत प्रचलित है। सर्प पूजा का आरम्भ कब हुआ यह कठिन समस्या है। काणे जी की मान्यतानुसार - 'सम्भवतः वर्षाऋतु में सर्पदंश से बहुत लोग मर जाते थे। अतः सर्पपूजा का आरम्भ सर्पभय से हुआ।'[22] जहां तक सर्प पूजा की बात है आर. जी भण्डारकर अपनी पुस्तक में कहते हैं कि 'ईरानियों ने भारत आकर पूजा को एक नवीन स्वरूप प्रदान किया।'[23] वर्तमान में सर्प को दूध पिलाने की प्रथा है जबकि सर्प दूध नहीं पीता।

प्रो. कल्याणमल लोढ़ा का मत

प्रो. कल्याणमल लोढ़ा ने अपने आलेख इंडोईरानियन रिलेशनशिप में अपना मत व्यक्त करते हुए कहा है कि 'पुरुष देवताओं के साथ नारी देवियों का पूजन ईरान के प्राचीन आदिवासियों में मुख्य रूप से था। यह समानता हमें भारतीय अर्धनारीश्वर में दिखाई देती है। इसी प्रकार नाग सम्प्रदाय दोनों देशों और उनमें लोक धर्म में पाई जाती है। ईरान के मागी पुरोहितों ने भारत में सूर्य पूजा को प्रचलित किया।[24]

भारत में गणेश पूजा

भारत में प्रत्येक मंगल कार्य के पहिले श्रीगणेश पूजा का महत्व है। लाखों की संख्या में लोग प्रतिदिन उनकी उपासना करते हैं। उनकी उपासना वैदिक मंत्र (गणनां त्वां गणपति हवा महे, (ऋग्वेद 2/23/1) से की जाती है। वास्तव में यह मंत्र बृहस्पति को संबोधित है किन्तु मध्यकाल की धारणाओं में गणेश ने उस वैदिक देवता की विशेषताएं ग्रहण कर ली। श्रीवास्तव के मतानुसार टिप्पणी में कहा गया है कि श्री गणेश अनार्यों के देवता हैं जिसे कालान्तर में ब्राह्मण धर्म में सम्मिलित कर लिया गया है।[25] गणेश को विघ्नायक, गजमुख, एकदन्त, वक्रतुण्ड, लम्बोदर आदि नामों से भी जाना जाता है। उनका सम्बन्ध विद्या के देवता से भी जोड़ा जाता है। यह भी कहा जाता है कि गणपति के द्वारा विष्णु को पुनः जीवित किया गया है,[26] जिन्हें धीरे-धीरे भुलाया जा रहा था। उनके नाम पर गणपात्य सम्प्रदाय भी पाया जाता है। एक रोचक तथ्य यह है कि गणेश की पूजा हिन्दू धर्मावलम्बी मुक्ति के लिये नहीं करते किन्तु वे उनकी शरण सफलता और समृद्धि के लिये करते हैं।[27]

वाल्मिकी रामायण में मूर्ति पूजा

विद्वान सांवलिया बिहारी वर्मा का कथन है कि 'वाल्मिकी रामायण में कहीं भी मंदिर या मूर्ति का उल्लेख नहीं है।'[28] एक प्रश्न और है कि राम की पूजा कब, कैसे और कहां सर्वप्रथम आरम्भ हुई? डॉ. ब्रजबिहारी लाल निगम एक बड़ी सटीक बात कहते हैं कि 'अवतार न तो सृष्टि करता है न संहार ही। त्रेता युग में राम का अवतार रावण को मार सका लेकिन सामाजिक जीवन से वह हमेशा के लिये समाप्त नहीं हो पाया।[29] श्री उपेन्द्रनाथ राय अपने आलेख सामंत वर्ग के शुभ चिन्तक वाल्मिकी में कहते हैं कि रामायण आज न तो प्रासंगिक है न उसका आदर्श ग्रहण करने योग्य है।[30] श्री भगवान सहाय त्रिवेदी, श्री उपेन्द्रनाथ राय के आलेख के विषय में लिखते हैं कि श्री उपेन्द्रनाथ राय ने राम के चरित्र में स्खलन का उल्लेख किया है। वैसे राम के चरित्र में बालि वध, सीता परित्याग, लक्ष्मण को वन में ले जाकर उर्मिला के प्रति बरती क्रूरता आदि कई घटनाएं ऐसी हैं जो उनके मर्यादा पुरुषोत्तम रूप को धूमिल करती है।[31] वैसे देखा जाए तो अवतार में भगवान के सभी गुण विद्यमान होना चाहिए किन्तु वाल्मिकी रामायण के उत्तरकाण्ड में शम्बूक बध की कथा है, शम्बूक जो शूद्र था। शुद्र होकर तपस्या कर रहा था, जिससे ब्राह्मण बालक की अकाल मृत्यु हुई, अतएव राम ने शम्बूक का वध कर डाला? माना राम ने माता-पिता की आज्ञा का आदर कर वनवास ग्रहण किया। क्या आज उसका प्रभाव हमारे बच्चों पर है। आज हम देख रहे हैं कि बच्चे अपने माता-पिता का आदर नहीं करते

उनकी सुनते नहीं उन्हें आश्रम में छोड़ आते हैं। आज भारत की गरीब धर्मालु जनता सामंतवादी राजनीतिज्ञों के कारण आसुरी शक्ति द्वारा जकड़ी हुई है, नैतिकता का पतन होता जा रहा है। सत्ता के आधार पर राजनीतिज्ञ करोड़पति बनते जा रहे हैं। इसकी जड़ में एक ही कारण है जिसे विशाल मंगलवादी ने अभिव्यक्ति दी है - "The root of whole wretched state of Hindu society was (is) idolatry and the obnoxious super situations attached to it."[4]

मूर्ति में प्राण प्रतिष्ठा

एक मूर्ति की पूजा करने के पहिले उसका अर्पण (consecration) करना बहुत आवश्यक है अर्थात् मूर्ति के अंदर प्राण का आह्वान करना, क्योंकि बिना प्रतिष्ठा के मूर्ति के अंदर भगवान् स्थापित नहीं होते और न ही मूर्ति भक्त की प्रार्थना सुन सकती है। यह प्राण-प्रतिष्ठा पुरोहितों द्वारा रीति-रिवाजों के अनुसार मंत्र बोलकर की जाती है 'यह मंत्र प्राचीन ऋषि-मुनि द्वारा रचित है' जो इंसान थे। पुरोहित मंत्रों को बोलकर देवता का आवाहन करता है कि वह आये और मूर्ति में रहे। यहां कई प्रश्न किये जा सकते हैं जैसे क्या पुरोहित ऐसा धार्मिक शुद्ध व्यक्ति होता है जिसके दबाव में भगवान् आकर उस मूर्ति में समाहित हो जाए? माना जाता है कि वह इस कार्य को करने के लिए आधिकारिक व्यक्ति है, एक सामान्य व्यक्ति यह कार्य नहीं करवा सकता। ऐसे अवसर पर पुरोहित ऐसे श्लोकों का उच्चारण करता है जिनमें यह कहा जाता है कि अमुख देवता या भगवान आप आकर इस मूर्ति में स्थित होकर प्रसन्न हों आदि।

पुरोहित श्लोकों को बोलते समय मूर्ति के सभी अंगों को छूता जाता है ताकि वह देवता जिसका आवाहन किया गया है। देवता के अंग बन जाएं। बड़ी विचित्र बात यह है कि जिन श्लोकों का निर्माण मनुष्य ने किया वह उन श्लोकों के माध्यम से मूर्ति में प्राण डाल दे। पुरोहित को स्वयं अपने जीवन के बारे में ज्ञात नहीं कि शरीर से कब प्राण निकल जावे और पृथ्वी पर से उसका अस्तित्व समाप्त हो जावे। क्या वह परम शक्ति श्लोकों के अथवा पुरोहित के अधीन है कि वह आकर उस मूर्ति में समाहित हो जावे। मनुष्य यह सब अज्ञानता वश कर रहा है और विश्वास करता है कि उसके आवाहन से मूर्ति जीवित हो जावेगी। तब मूर्ति का पूजन आरम्भ कर दिया जाता है। मंदिर में भी मूर्ति पूजन का अधिकार पुरोहित को ही होता है, साधारण जनता जनार्दन को नहीं। निष्कर्ष में एक बात कही जा सकती है कि मूर्ति पूजन में भी जनता जनार्दन की सहभागिता स्थापित नहीं होती, इससे तो बेहतर यह है कि अनुयायी बिना मूर्ति के भगवान् का स्मरण कर स्वयं सच्चे हृदय से, हृदय की गहराई से आत्मिक रूप से अपनी बात अपनी प्रार्थना भगवान् से करे और सहभागिता स्थापित करे।

देवी-देवताओं के वाहन

धार्मिक साहित्य द्वारा ज्ञात होता है कि प्रत्येक देवता एवं देवी के साथ उनके वाहन की भी चर्चा है जिसके द्वारा वे इधर-उधर आना-जाना करते हैं। बताया गया है कि सीतला देवी का वाहन गदहा, सारथी का वाहन बिल्ली, मनसा सर्प के साथ। शिव जी का वाहन नन्दी, दुर्गा के साथ शेर, कार्तिक के साथ मोर, गणेश के साथ चूहा, लक्ष्मी के साथ उल्लू, सरस्वती के साथ राजहंस, अग्नि के साथ बकरी और नारायण के साथ गरुड़ पक्षी जुड़े हैं।[5] देवी-देवताओं के साथ वाहन के प्रश्न को लेकर भी वाद-विवाद की सम्भावना दिखाई देती है, फिर भी धार्मिक प्रश्न होने के कारण यह आस्था, विश्वास पर आधारित है। इस विषय पर भी शैक्षणिक जगत् में चिंतन होना चाहिये ताकि भारतीय जनता अंधविश्वास से बचे और केवल मूर्त ईश्वर में विश्वास कर प्रगति का मार्ग अपनाये और इस पूर्णता को पाने के लिये नैतिक मार्ग का चयन कर व्यवहार में लाए।

मूर्तियों के कारण संघर्ष

भारतीय धार्मिक विश्वास में समुदायों का संघर्ष भी परिभाषित होता है। शैव, वैष्णव संघर्ष का स्पष्ट

इतिहास तेलगु साहित्य के आलोच्य युग में देखा जा सकता है। 'आमुख माज्यदा' काव्य में भगवान श्री एकरंग से कवि इस प्रकार कहलाता है, कि शैव राजा का पागलपन इतना बढ़ गया है कि अब वह मुझ पर विश्वास नहीं करता। हमारी मूर्तियों के प्रति वह कहता है कि एकमात्र शिव ही उसका आधार स्वरूप है। हमारे मंदिरों के उत्सवों के प्रति भी वह अनादर प्रदर्शित कर रहा है। आदिकाल के वैष्णव मंदिर धराशायी भी हो गये हैं, और उक्त स्थान पर शैव मठों की स्थापना की जाती रही है। जब कभी वह सन्यासी को देखता है तब वह भयभीत सा हो जाता है। शिवलिंग धारी निषिद्ध कार्य करने पर भी मौन रहता है (आमुक्त मालयदा 4/ 42, 43, 44, 47)। शैव कवियों की प्रतिक्रिया से वैष्णव कवियों ने भी शिव निंदा प्रारम्भ कर दिया। उदाहरणार्थ तल्लपाक चिनतिरूबेगल नाथ ने परम योगी विलासमु काव्य में शिव की पूर्णतया निंदा की। उनका 'ऊषा कल्याण' काव्य भी शैव मतद्वेष से अछूता नहीं रहा। (ऊषा कल्याणम् पृष्ठ 66, 73, 81, 82, 83)[34]थोड़ा-सा चिंतन करें तो हम पायेंगे कि भारत में आदि काल से धार्मिक हिंसा ने जन-जीवन को प्रभावित किया है और यही कारण है कि जैन धर्म और बौद्ध धर्म पृथक हो उन्होंने अहिंसा पर अधिक बल दिया। क्या ऐसे में भारत में कभी 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का विचार सार्थक होगा?

गीतेश शर्मा ने अपनी पुस्तक 'धर्म के नाम पर' ऐसी बात लिख दी जो एक खोज का विषय बनता है। उनका कथन है कि बद्रीनाथ मंदिर को जो पहले बौद्ध मठ था उसे परिवर्तन कर शंकराचार्य ने बद्रीनाथ मंदिर स्थापित किया।[35] परमात्मा का धन्यवाद है कि बौद्धों ने इस पर आपत्ति नहीं की।

कुंभ मेलों में घटित घटनाओं पर दृष्टिपात करने पर बहुत कुछ ज्ञात होता है। "नवी शताब्दी में शैव और वैष्णव साधुओं ने बौद्ध और जैन समुदायों के विरुद्ध आक्रमण किया और हिंसात्मक दृष्टिकोण धारण कर लिया था।" गीतेश शर्मा का कथन है कि बौद्ध और जैन समुदायों के विरुद्ध शैव और वैष्णवों के आक्रमण ने हिंसात्मक रूप अखत्यार किया था। पांचवी और नौंवी शताब्दी तक शैव और वैष्णवों के प्रभाव से, जैन और बौद्धों के विरुद्ध व्यापक हिंसा के कारण ही दक्षिण भारत से दोनों का सफाया हो गया। रामानुज के उकसाने पर विष्णुवर्धन ने जैनियों के सिरों को घानी में पिसवाया और जैन मंदिर नष्ट करके हिन्दू मंदिरों में परिवर्तित किया था।[1]मूर्तियों का दुष्प्रभाव यह है कि हम भारतीयों में असहिष्णुता तथा संकीर्णता आ जाती है और हिंसा के प्रकरणों में वृद्धि होती है।

मूर्ति पूजन का विरोध

ऐसा नहीं है कि दूरदृष्टि रखने वालों भारतीय ने विरोध नहीं किया। जिन्होंने विरोध किया उनमें कबीर, वामन, तिलक, स्वामी दयानंद, नारायण गुरु, सहोदरण, अयप्पन, राजा राममोहन राय, महात्मा फूले, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर हैं। फिर भी हमने उनकी नहीं सुनी, क्योंकि ब्राह्मणों के व्यवसाय पर आघात होता है, क्योंकि यह उनके जीविकोपार्जन का साधन है। आलेख के विस्तार भय के कारण से हम यहां उनके विचारों का वर्णन नहीं कर रहे हैं।

समय ने करवट ली और कुछ चिन्तकों ने मूर्ति पूजा पर बल दिया जिसमे रामकृष्ण परमहंस, विवेकानंद, बालगंगाधर तिलक, जिन्होंने गणेश उत्सव को स्थापित कर समस्त भारत में गणेश उत्सव को ख्याति देने व दिलवाने में अपना योगदान दिया।

मूर्तिपूजा का यह प्रभाव हुआ कि आज के युग में बटुकों की शिक्षा पर अधिक बल दिया में जा रहा है। छोटे-छोटे बच्चों की पाठशाला लगाकर श्लोकों को सस्वर में रटाया जा रहा है और परीक्षा उत्तीर्ण करने पर पुरोहितगिरी करने के लिये उन्हें सक्षम बनाया जा रहा है ताकि समस्त धार्मिक कर्मकाण्ड वह करवा सके और अपनी जीविका चला सके।

ब्राह्मणों की चतुराई ने देवताओं तक का

वर्गीकरण कर दिया। पी.एन. रंगास्वामी ने अपनी पुस्तक 'जाति प्रथा दो निबन्ध' में लिखते हैं कि चारों वर्णों के देवताओं का निर्धारण कर दिया गया। ब्राह्मण के लिये अग्नि और बृहस्पति, क्षत्रियों के लिये वरुण, सोम और यम, वैश्यों के देवता वसु व रुद्र, विश्वदेव और मारुत तथा शूद्रों के लिए पूषा देवता का निर्धारण किया गया था।[36]

मूर्ति के प्रति गुरुनानकजी के विचार

गुरुनानकजी जिन्होंने सिक्ख धर्म की स्थापना की उन्होंने मूर्ति एवं पूजा पद्धतियों को अमान्य कर दिया। वे कहते हैं-

थपिया न जाई कीता न होई।

मूर्तियों के चरणों में गिरने वाले हाथ से कार्य न करके भिक्षा वृत्ति पर गुजारा करने वालों के विरोध में एक पण्डित ने कहा है -

थरि नारायणु समा नाति पूज करै रखै नवाति
चंगु चनगु फुल चढ़ए। पैरी पै पै बहुत मनाएं
माणआ मंगिगी में जे खाई अंधी कंधी आंध सजाई
चुखिया देइ न मरदिया रखै, सजादू अंधा-लगड़ा अंधा सथै।

(गुरुग्रन्थ साहिब पृ.1240-41)

देखा जाए तो गुरुनानक देव जी ने वैधी भक्ति के सम्पूर्ण विधि विधान तिलक, माला, आसन, मूर्तिपूजा, जनेऊ, धूपदीप, चंदन आदि को अमान्य ठहराया है।[37]

सर्वपल्ली राधाकृष्णन् का मत

भारतीय दार्शनिक डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन् का मत है कि वैदिक आर्यों के पास कोई मंदिर नहीं थे और न वे प्रतिमाओं का उपयोग करते थे। द्रविड़ सभ्यता ने मूर्ति पूजा को प्रोत्साहन दिया और यज्ञ के स्थान पर पूजा पर जोर दिया।[38] इसी के साथ वे भागवत से उद्धृत करते हैं कि भागवत में भगवान के मुँह से कहलाया गया है कि मैं सब प्राणियों में भी उनकी आभा में विद्यमान हूँ परंतु मेरी विद्यमानता की उपेक्षा करके मर्त्य मनुष्य मूर्ति पूजा का ढोंग करता है।[39] एक अन्य स्थान पर उनका कथन है कि मूर्तियां तो केवल दुर्बल चित्त के लोगों के लिये हैं।[40] वे चाणक्य नीति को उद्धृत करते हैं कि देवता, न तो लकड़ी में हैं, न तो पत्थर में देवता तो रहस्य है। इसीलिए रहस्य भाव ही कारण है।

न देवो विद्यते काष्ठ, न पाषाणों, न मृग मये।
देवो ही विक्षते भावे तस्मान भावो हि कारण मय। 6-11

डॉ. राधाकृष्णन् यह भी बताते हैं कि 'रूप गोस्वामी और सनातन गोस्वामी मुसलमान थे, जो चैतन्य के शिष्य बन गये थे, उन्होंने वैष्णव धर्म की चैतन्य पूजा पद्धति पर महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे।'[41]

उपसंहार

इस लघु आलेख की सामग्री और अध्ययन से विचार बनते हैं कि हम भारतवासी यद्यपि राजनैतिक रूप से स्वतंत्र हैं परंतु आध्यात्मिक रूप से अन्धविश्वास की बेड़ियों में जकड़े हुए हैं और अपने जीवन और देश को विनाश की ओर ले जा रहे हैं। ब्राह्मण वर्ग ने तो बड़ी चतुराई से कल्पना के आधार पर उस अविनाशी परमेश्वर की महिमा को नाशवान मनुष्यों, पक्षियों, चौपायों और रेंगनेवाले जन्तुओं की मूरत की समानता में बदल डाला।[42] परमेश्वर तो अदृश्य है, वह आत्मा है। स्पष्ट कहा गया है कि परमेश्वर आत्मा है और अवश्य है, कि उसके भजन करने वाले आत्म और सच्चाई से भजन करें। (यूहन्ना 4:24)। किन्तु अज्ञानता के कारण हमने ईश्वर को देवी-देवताओं में विभाजित कर पाषाण धातु और लकड़ी में रोपित कर उस परम सत्ता को अप्रसन्न करने का कार्य किया है। भारत में बहुधा कहा जाता है कि मन चंगा तो कठौती में गंगा किन्तु हमारा मन मूर्ति पूजने के पाप के कारण रोगी है इसलिये कह सकते हैं जैसा कि होशेनबी ने कहा इस देश में न तो कुछ सच्चाई है न कुछ करुणा और न कुछ परमेश्वर का ज्ञान ही है यहां शाप देने, झूठ बोलने,

वध करने के अलावा कुछ नहीं होता, वे व्यवस्था की सीमा को लांघकर कुकर्म करते हैं और खून ही खून होता रहता है।[43] होशेनबी ने यह इस्राइली जाति के विषय में लिखा था। जो मेरे देश भारत पर पर भी लागू होता है क्योंकि हमारे देश में यह मूर्ति पूजा भोर के मेघ के समान और सबेरे उड़ जाने वाली ओस के समान है।[44]

'ईश्वरत्व सोने या रूपे या पत्थर के समान नहीं है, जो मनुष्य की कारीगरी और कल्पना से गढ़ा गया हो।'[45] हमें यह भी ध्यान करना चाहिये कि जिस परमेश्वर ने पृथ्वी और सब पशुओं को बनाया वह स्वर्ग और पृथ्वी का स्वामी होकर हाथ के बनाये हुए मंदिरों में नहीं रहता न किसी वस्तु का प्रयोजन रखकर मनुष्यों की हाथों की सेवा लेता है क्योंकि वह तो आप ही सब को जीवन और श्वास और सब कुछ देता है।[46] सच्चाई यह है कि हमारी देह ही परमेश्वर का मंदिर है किन्तु आसुरी शक्ति के वश में हमने इसे अपवित्र किया है। उसकी धीमी आवाज यही है कि अपने को पवित्र करो, कुकर्म न करो, उसकी आज्ञा मानो, उसको अपने हृदय में स्थान दो। एक बहुत अच्छा उपाय मनुष्य को बताया गया है कि परमेश्वर का भय मान और उसकी आज्ञाओं का पालन कर, क्योंकि मनुष्य का सम्पूर्ण कर्तव्य यही है। (समोपदेशक-पुराना नियम 12:13)।

इस आलेख के अध्ययन के कारण से मेरी यह मान्यता बनी कि भारत में कभी भी मूर्ति पूजा नहीं थी किन्तु आर्य जब मध्य एशिया से आये तब वे मूर्ति पूजा अपने साथ लाये। सम्भव है यह बेबीलोन की देन है हारून ने इस्राएलियों से सोना लेकर अग्नि में डाला तब एक बछड़ा निकला जिसकी पूजा होने लगी। दूसरा व्यक्ति यारोबाम था जिसने राजा की सम्मति से दो बछड़े बनवाये और एक को बेतेल और दूसरे को दान में स्थापित करवाया[47] और लोग पूजा करने लगे। तीसरा व्यक्ति निग्रोद था जो अपवित्र शासक था। लोगों ने उसे सूर्यदेवता के रूप में स्थापित किया। देवताओं के साथ-साथ वहां देवियों को भी माना जाने लगा। जिससे अशतोरेत अशेरा देवियां भी प्रमुख हुई। संभव है यह सारी बातें बाहर से आयी और हमारी मानवीय कमजोरी के कारण हमने ग्रहण कर लिया और एक ईश्वर से दूर होकर अपनी कल्पना से बनाये हुए देवी-देवता की उपासना करने लगे। पवित्र पुस्तक बाईबल शिक्षा देती है कि अपने उन अंगों को मार डालो जो पृथ्वी पर हैं अर्थात् व्यभिचार, अशुद्धता, दुष्टकामना, बुरी लालसा और लाभ को, जो मूर्ति पूजा के बराबर है।[48]

अतः मेरा नम्र निवेदन समस्त भारतवासियों से है कि मूर्ति पूजा जो एक सामाजिक बुराई है इसे छोड़ दें और सच्चे हृदय से अपने इष्ट को स्मरण करें और भविष्य में आने वाली विपत्ति से अपने शरीर और आत्मा दोनों को बचायें।

संदर्भ

1. धर्मशास्त्र का इतिहास, पाडु रंग वामन काणे (चतुर्थ भाग) पृष्ठ 14। **2.** धर्म एवं संस्कृति - डॉ. जे. एम. रस्तोगी, पृष्ठ 16 । **3.** वही, पृष्ठ-26। **4.** प्राचीन भारतीय प्रतिमा विज्ञान एवं मूर्तिकला, डॉ. ब्रजभूषण श्रीवास्तव, पृष्ठ-5। **5.** विश्व धर्म दर्शन-सांवलिया बिहारीलाल वर्मा, पृष्ठ-82। **6.** इतिहास अनुशीलन अंक-1, जून 1967 (स) जे राधेश्याम, पृष्ठ-93। **7.** धर्म शास्त्र का इतिहास - पांडुरंग वामन काणे प्रथम भाग पृष्ठ 388-390। **8.** Indian Culture - History and renalssance, (ed.) Jaikishan das Sadani B.D. Mundhra P. 36-37. **9.** भारतीय धर्म एवं संस्कृति डॉ. जे.एस. रस्तोगी, पृष्ठ 36। **10.** धर्मशास्त्र का इतिहास-पांडूरंग वामन काणे (तृतीय भाग), पृष्ठ 1341। **11.** Religious Hinduism Jesusit Scholar P. 169. **12.** धर्मशास्त्र का इतिहास - पांडुरंग वामन काणे (तृतीय भाग), पृष्ठ 1341। **13.** धर्मशास्त्र का इतिहास, पांडुरंग वामन काणे, पृष्ठ 99। **14.** हिन्दू आध्यात्मिकता : धार्मिक व्रत एवं त्यौहार, डॉ. एन्थोनी, 86, पृष्ठ 56। **15.** धर्म दर्शन (सम्मरित) सुखदेव शर्मा, पृष्ठ 114। **16.** गांधी का दर्शन - संगमलाल पाण्डे, पृष्ठ 92। **17.** हिन्दू आध्यात्मिकता : धार्मिक व्रत एवं त्यौहार, डॉ. एन्थोनी,

पृष्ठ 57। **18.** धर्म का उद्‌भव और विकास - ई.डब्ल्यू, हॉपकिंस, अनुवादक, तुलसीराम शर्मा, पृष्ठ 291। **19.** शैव धर्म और दर्शन, डॉ. ब्रज बिहारी लाल निगम, पृष्ठ 98। **20.** विश्व धर्म दर्शन, डॉ. सांवलिया बिहारी लाल वर्मा, पृष्ठ 83। **21.** The Philosophy of Pancratra- Dr. S.R.Bhatt. P. 41 & 102. **22.** धर्मशास्त्र का इतिहास - पाण्डुरंग वामन काणे चतुर्थ-भाग, पृष्ठ 52। **23.** Saivisam, Vaisnavisam and Minor Religious Sects. R.G. Bhandarkar P. 153-154 और प्राचीन भारतीय प्रतिमा विज्ञान एवं मूर्ति कला - डॉ. ब्रजभूषण श्रीवास्तव, पृष्ठ 86। **24.** Indian Culture - History and reaissance - (ed.) Jaikishandas Sadani B. D. Mundhara P. 170. 1. प्राचीन भारतीय प्रतिमा विज्ञान एवं मूर्ति कला - डॉ. बृजभूषण श्रीवास्तव, पृष्ठ 134। **25.** धर्मशास्त्र का इतिहास - पाण्डु रंग वामन काणे, (चतुर्थ भाग), पृष्ठ 58। **26.** हिन्दू आध्यात्मिकता, धार्मिक व्रत एवं त्यौहार - डॉ. एन्थोनी, पृष्ठ 78। **27.** विश्व धर्म-दर्शन, सांवलिया बिहारीलाल वर्मा, पृष्ठ 85। **29.** शैव धर्म और दर्शन - डॉ ब्रज बिहारीलाल वर्मा, पृष्ठ 161। **30.** वैचारिकी मई-जून, 2016, अंक 3. पृष्ठ 63। **31.** वैचारिकी जनवरी-फरवरी 2017, अंक 1. पृष्ठ 91। **32.** Missionary Conspiracy- Vishal Mangalwadi P. 115. **33.** Religious Hinduism - Jesutis scholar. P. 173. **34.** हिन्दी और तेलगु वैष्णव भक्ति साहित्य - डॉ. के. एम. नाथान, पृष्ठ 12-13। **35.** धर्म के नाम पर - गीतेश शर्मा, पृष्ठ -68। **36.** जाति प्रथा - दो निबन्ध - पी.एन. रंगास्वामी, अनुवादक रितु गुप्ता, पृष्ठ 32। **37.** पंजाबी साहित्य में भक्ति - जोधन सिंह, पृष्ठ 367-369। **38.** धर्म और समाज - डॉ. राधाकृष्णन, पृष्ठ 145। **39.** धर्म और समाज - डॉ सर्वपल्ली राधाकृष्णन, पृष्ठ 143। **40.** वही पृष्ठ 144। **41.** वही पृष्ठ 134। **42.** रोमियो की पत्नी (नया नियम) 1:23। **43.** होशे... 4:12 (पुराना नियम)। **44.** होशे (पुरानानियम) 6:4, 17:29। **45.** प्रेरितों के काम (नया नियम)। **46.** प्रेरितों के काम (नया नियम) 17:24-25। **47.** एक राजा 12:25-30 (पुराना नियम)। **48.** कुलस्मियों 3:5 (नया नियम)

मो. 9414000539

प्रतिस्वर

वैचारिकी का अर्थभाष्यम् विशेषांक (सित.-दिस.-21) मिला। इसमें वैकुण्ठ के बारे में लिखा गया है (पृ. 117-118)। पुराणों में तो यह अन्य लोक में स्थित है, जहां विष्णु निवास करते हैं। श्रीरंगम (कर्ना.) के संत रामानुजाचार्य को वैकुण्ठ देखने का वरदान विष्णु से प्राप्त हुआ था जिसका वर्णन उनकी रचना 'वैकुण्ठ गद्यम्' में उपलब्ध है। इसमें उन्होंने बताया है कि 14 लोकों के ऊपर 7 धाम (इस जगत से सभी बड़े आकार के) उसके ऊपर वैकुण्ठ है जहां विष्णु लक्ष्मी एवं आदिशेष का निवास था। वहां पर रत्नों से सज्जित भवन, सुसज्जित उद्यान, सरोवर, कल्पवृक्ष एवं सुंदर पक्षी थे। जगन्नाथ पुरी को भूमि का वैकुण्ठ कहा जाता है।

शिश्न देवा (पृ. 93,114) : पूर्व में जिसे 'शिश्न देवा' कहा गया था, वर्तमान में वह शिवलिंग से जाना जाता है। पुरुष शरीर के शिश्न को देवता की संज्ञा प्रदान करना तर्क से परे है। (परिवार वृद्धि हेतु अवश्य ही महत्वपूर्ण अवयव है। बाली, इंडोनेशिया में कई स्थानों पर लकड़ी/मिट्टी के बने शिश्न अर्पण करने की परंपरा रही है।

नरबलि, नरमांस भक्षण (पृ. 48) : पूर्व में तामसिक प्रवृत्ति के व्यक्तियों द्वारा यह कार्य किया जाता था, उनकी धारणा थी कि देवी-देवता को बलि अर्पित करने से सुख एवं संपन्नता प्राप्त होगी। अन्य कारण था खाद्य सामग्री का अभाव, विभिन्न कबीले/जातियों में वैमनस्य।

जितेन्द्र नाथ जौहरी
ई-234, सैक्टर-14, हिरण मगरी
उदयपुर-313002

भारतीय धर्म-दर्शन संस्कृति की विश्वव्यापकता

गोपाल जी गुप्त

मैंने इस आलेख को मुख्यतः आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी द्वारा संपादित पत्रिका सरस्वती (भाग 17, खण्ड-1, जनवरी-जून 1916) में प्रकाशित कुछ विद्वानों के लेखों तथा अन्य अनेक ग्रन्थों, पत्र-पत्रिकाओं आदि में प्रकाशित रचनाओं पर आधृत किया है, तदर्थ मैं सभी रचनाकारों, जिनकी रचनाओं से सामग्री संकलित की है, के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।[1]

इसमें मतभेद नहीं है कि विश्व की किसी भी सभ्यता, संस्कृति अथवा संवेदना को किसी क्षेत्र विशेष, राष्ट्र, देश, राज्य की सीमा में बाँधना दुष्कर है। क्षण-प्रतिक्षण परिवर्तनशील समाज प्रकृति के जिन प्रभावों, प्रवाहों से पुष्टता पाता है उनके स्वरूप को मनीषियों ने संस्कृति कहा है। अन्य शब्दों में संस्कृति समाज द्वारा स्वीकृत प्राप्त परम्परा, प्रथा, ग्राह्य भावना है जैसा कि यास्क ने निरुक्त (1.3.15) में कहा है (समत्ये की भाव)। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी किसी देश और काल के सर्वोत्तम चिन्तन को ही संस्कृति मानते हैं।[2] पुरातन भारतीय दर्शन, धर्म, संस्कृति के अनेक चिह्न, प्रतीक आदि विश्व के अनेक देशों के लोक-साहित्य, लोक व्यवहार, लोक निर्माण में परिलक्षित होने से इस धारणा की पुष्टि होती है कि यह सर्वव्यापी रही है। अनेक गवेषणात्मक-शोधों, अनुसन्धानों, उत्खननों से प्राप्त प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि पुरातन प्राचीन भारतीय शासकों ने अनेक पौर्वात्य एवं पाश्चात्य देशों को बसाया, स्थापित किया तथा उनपर शासन किया और भारतीय दर्शन, धर्म, संस्कृति का वहाँ प्रसार भी किया। भारतीय प्रज्ञावान ऋषियों-मनीषियों ने पश्चिम में मिस्र एवं फिनीशिया, पूर्व में स्याम, चीन, जापान, दक्षिण में श्रीलंका, जावा, सुमात्रा, बोर्निया, उत्तर-पश्चिम में कम्बोडिया, ईरान, रोम, केलचिज, यूनान आदि में अपना प्रभुत्व स्थापित किया, यह तथ्य अनेक उत्खननों से प्राप्त सामग्रियों, विद्वानों की रचनाओं, इतिहासकारों के उल्लेखों से प्रमाणित हो चुका है।

कर्नल आल्काट के अनुसार मिस्र, रोम, यूनान, बेबीलोनिया, उत्तरी यूरोप का दर्शन शास्त्र वस्तुतः भारतीय दर्शन का ही प्रतिरूप है। नारद, मरीचि, मनु, कपिल, व्यास, बाल्मीकि, कणाद, जैमिनी, गौतम बुद्ध आदि के सैद्धान्तिक दर्शन ही पाइथागोरस, सुकरात, अरस्तु,

प्लेटो, होमर, हेसियड, सिसरो, जीनो, वर्जिन आदि के दर्शन में अपनाये गये हैं।

जर्मनी के चिन्तक डेलबास के अनुसार सहस्राब्दियों पूर्व की भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति से भूमण्डल के लगभग सभी देश प्रभावित हुए हैं। पोकाक Pococke ने India in Greece में लिखा है कि विश्व में महाभारत युद्ध सदृश कोई अन्य घटना नहीं घटी जिसका परिणाम इतना भयंकर हुआ कि भारत के अनेक ज्ञानी, शास्त्र विशारद हिमालय से आगे यूरोप, अमेरिका तथा पश्चिम एशिया में जाकर बस गये तथा वहाँ भारतीय संस्कृति, दर्शन, सभ्यता का प्रसार किया।

यजुर्वेद,[3] महाभारत, मनुस्मृति[3] आदि में ऐसे उल्लेख हैं कि भारतीय दूरस्थ राष्ट्रों की यात्रा किया करते थे। महाभारत (शांति पर्व 3/26) के अनुसार महर्षि व्यास तथा शुकदेव हरिदेश (यूरोप) गये जहाँ तीन वर्ष प्रवासोपरान्त तुर्किस्तान, ईरान होते हुए वापस भारत लौटे। सभा पर्व (26-28) के अनुसार पाण्डवों ने ब्रह्मदेश, चीन, ईरान, तातार, हिरात, मंगोलिया, काबुल, कान्धार, बलूचिस्तान अरब, मिस्र, अफ्रीका की दो बार यात्रा की थी जिस दौरान वे अगस्त्यतीर्थ, पुण्यतीर्थ, सुभद्रतीर्थ, कारन्धमतीर्थ, भरद्वाजतीर्थ भी गये। धृतराष्ट्र का विवाह कन्धार (गान्धार) नरेश सुबल की पुत्री गान्धारी से हुआ था। कृष्ण के पौत्र अनिरुद्ध का विवाह शुण्ड (मिस्र) नरेश वाणासुर की पुत्री ऊषा से हुआ था। पुरातत्वविदों, इतिहासकारों के अनुसार महेश्वर शिव सम्राट थे तथा उनका साम्राज्य शिवदान (सूडान), अर्यान (ईरान), एशियामाइनर के शस्वन (शिववन), हरराष्ट्र (हिरात), रुद्रप्रदेश (फारस का पुराना लिंगायत) तक विस्तारित था और उनके श्वसुर दक्ष उमाप्रदेश, हिमवन (अरब के शस्वन के निकट स्थित) के शासक थे तथा कुमार कार्तिकेय का जन्म क्रौंचगिरि (काराकुटम) में हुआ था।

मनुस्मृति (अध्याय 10) में कहा गया है कि क्षत्रियवंशी पौण्ड्रक, औष्ट्र, द्रविड़, काम्बोज, शक, यवन, पारद, पल्लव, किरात, परद आदि केवल इस कारण अनार्य कहे गए क्योंकि वे आर्यावर्त से बाहर बस गये थे तथा ब्राह्मण उन्हें दर्शन नहीं देते थे।[4] महाभारत (शान्ति पर्व 64) के अनुसार उपर्युक्त जातियाँ भारत के चार वर्णों में थी जो बाद में अनार्य हो गयी थी।[5]

कर्नल टाड की पुस्तक Rajsthan के अनुसार द्युमिदा और भजस्व (deomida & Bajaswa) की संतानें, चन्द्रवंशी अश्वजाति के इन्दु, सिन्धु के दोनों ओर बसी थी जिससे उस भूखण्ड का नाम एशिया पड़ा। उनके अनुसार जैसलमेर के इतिहास से प्रमाणित होता है कि विक्रम संवत् के काफी पूर्व से ही क्षत्रियों के राज्य का विस्तार गजनी से समरकन्द तक था जिस पर चन्द्रवंशी यदु तथा वाह्नीक ने महाभारत युद्ध के उपरान्त खुरासान में शासन किया था जिन्हें ही युनानी इतिहासकारों ने इण्डोसीरियन कहा है। बौद्ध मतावलम्बी शासकों के काल तक अफगानिस्तान तथा काबुल भारतीय सीमान्तर्गत रहे।

आदिकालीन भारत की सीमा का उल्लेख विभिन्न पुरातन ग्रन्थों में मिलता है जिसमे पूर्व की सीमा ब्रह्मदेश, वर्मा, स्याम आदि सहित चीन सागर तक, पश्चिम की सीमा वर्तमान पाकिस्तान, ईरान, बलूचिस्तान, मेसोपोटामिया, अरब, अफगानिस्तान आदि सहित रक्तसागर (भूमध्य सागर) तक थी। अन्य शब्दों में पूर्वी चीन सागर से पश्चिमी लाल सागर तक का सम्पूर्ण क्षेत्र भारत में था। ॠग्वेद (10.86) के अनुसार सिन्धु नदी भारत के बीच से प्रवाहित होती थी तथा मार्कण्डेय पुराण (54वां अध्याय) में भी कहा गया है कि सिन्धु नदी के दोनों ओर का विशाल भाग भारत में था। पतंजलि के अनुसार[7] इसकी सीमा में आदर्श के पूर्व भूमध्य सागर से उत्तर प्रान्तस्थित तारस पर्वत, काल के वन से पश्चिम हिमालय से दक्षिण और परियात से उत्तर तक का सम्पूर्ण क्षेत्र आता था। हरिवंशपुराण (अध्याय 97) में कहा गया है

कि वज्रपुर (वर्तमान साइबेरिया की तब की राजधानी) के नरेश के मृत्योपरान्त कृष्ण के पुत्र साम्ब, प्रद्युम्न, गद ने वहाँ जाकर वहाँ के नरेश के ज्येष्ठ पुत्र को सिंहासन पर बैठाया था जो कृष्ण के गोलोक प्रस्थान के बाद शोक प्रकट करने द्वारका भी आये थे। इससे भी ध्वनित होता है कि वज्रपुर भारत के अधीन था। ऐसा भी उल्लेख है कि साइबेरिया, फिनलैण्ड में यदुवंश की दो उपजातियाँ श्यामयदु (Samayedes) तथा जाँदो (Jahandes) निवास करती थी।

असीरियन इतिहास में असीरियन नरेश बेल का उल्लेख है। प्राचीन इतिहासकार बेल को राजा बलि का अपभ्रंश मानते हैं। डॉ. भगवत शरण उपाध्याय[7] के अनुसार असीरिया असुरों की बस्ती थी। वायु पुराण में वर्णित 6 द्वीपों में एक द्वीप मलय है, चीनी इतिहासज्ञ बाँगफू के अनुसार यही मलाया है। इसकी सम्पुष्टि हेतु उसने वहाँ की राजभाषा का उल्लेख किया जो संस्कृत थी। वहीं पुराणकालीन कटाह राज्य भी था जिसकी स्थापना, डॉ. बेल्स के अनुसार भारतीयों ने की तथा काफी समय तक भारतीय नरेशों ने उसपर शासन भी किया था।

मैक्समूलर जोरेस्ट्रियन (पारसियों) को भारतीय मानते हुए कहते हैं कि काफी पहले वे भारत से पारस जाकर बस गये थे जैसा कि उनके धर्मग्रन्थ जेन्द अवेस्ता में उल्लेख से ध्वनित होता है। सर डब्ल्यू जोन्स के अनुसार जेन्द अवेस्ता के 60-70 प्रतिशत शब्द देवभाषा संस्कृत के हैं। पाररती सूर्योपासक होते हैं और सूर्य की उपासना भारतीयों में भी प्रचलित है। प्रोफेसर हाँग के अनुसार भारतीयों तथा ईरानियों की धार्मिक प्रथाओं में विलक्षण साम्यता है तथा जेन्द आवेस्तानुसार ईरानी नेदा जमशेद, ईरान के पूर्व-दिशा स्थित एक उच्च स्थान से वहाँ गये थे। यह स्थान भारत का गान्धार था। ईरान के इतिहास में तूरण युद्ध का जिससे आभास होता है कि पुरुरवा तथा ऐल के वंजश ऐरन ने ऐरन (ईरान) देश बसाया था। यह चन्द्रवंशी पुरुरवा वही थे जिनका उल्लेख महाभारत में है।[8]

गवेषक प्रो. विल्सन कहते हैं कि पुरातन भारतीय वाङ्मय में काम्बोज का उल्लेख है, यही कालान्तर में कम्बोडिया कहलाया, ऐसा वहाँ उत्खनन से प्राप्त सामग्रियों से प्रमाणित होता है। इस तरह कम्बोडिया को भी भारतीयों ने बसाया (उत्खनन में प्राप्त हिन्दू देवी-देवताओं की भग्न मूर्तियां तथा मन्दिरों के भग्नावशेष से इसकी पुष्टि होती है)।

चीनी तथा तातारी इतिहास के उल्लेखों से ज्ञात होता है कि पुरुरवा के एक पुत्र अवर की संतानें बाद में चीनी कहलायी। चीन देश की स्थापना ईसापूर्व 2900 में कश्मीर नरेश फोई ने की। प्रो. विल्सन के अनुसार 19वीं शताब्दि तक प्राचीन चीनी स्वयं को हिन्दुस्तानी कहते थे। भारतीय वाङ्मय इतिहास पुराणों, महाकाव्यों में चीन का उल्लेख है। वाल्मीकि रामायण के अनुसार वानरों को सीता की खोज में भेजते हुए सुग्रीव ने उन्हें चीन भी जाने को कहा था।[9] महाभारत में भी चीन का उल्लेख है।[10] हिन्द चीन के नरेश स्वयं को 'श्रीभारवंशोत्पन्न' कहते थे। शक संवत 757 के इन्दुवर्मन द्वितीय के शिलालेखानुसार प्रथम राजा भोज को शिवि ने वहाँ भेजा था क्योंकि वहाँ अनेक शैव भक्त रहते थे तथा अनेक शिवालय विद्यमान थे। चीन में शिव शक्ति की अनेक भग्न प्रतिमायें उत्खनन से मिली हैं तथा वहाँ के साहित्य में रामायण, महाभारत, लिंगपुराण, शिवपुराण की कई कथाएं भी सम्मिलित की गईं हैं।[11]

कर्नल टाड के अनुसार भारत के सूर्यवंशी क्षत्रियों ने अनेक द्वीपों को आबाद कर वहां मन्दिरों का निर्माण किया। ईसा पूर्व 75 में यवद्वीप (जावा) हिन्दू शासकों ने बसाया। लगभग 2000 वर्ष पूर्व जब वहाँ बौद्ध मतावलम्बियों की संख्या बढ़ी तब जिन्होंने इस मत को नहीं अपनाया वे पलायन कर दूसरे द्वीप पर जा बसे और इस नये द्वीप को बाली द्वीप नाम दिया। जावा, सुमात्रा, बाली द्वीपों में हुए उत्खननों में हिन्दू

देवी- देवताओं की भग्न प्रतिमायें मिली हैं। बाली द्वीप के ब्रह्माण्डपुराण तथा गद्य ग्रंथों के अनुसार वहाँ हिन्दू धर्म-संस्कृति महर्षि अगस्त्य व मार्कण्डेय लाये, दोनों ने नगाधिराज महामेरु (अंगुग) पर तपस्या की तथा देवालयों का निर्माण कराया। वहाँ आज भी अनेक हिन्दू मंन्दिर हैं। मार्कण्डेय द्वारा स्थापित पँचदेवता मन्दिर अतिप्राचीन तथा विख्यात है।

जावा के सभी हिन्दू देवालयों (पन्तरन, प्राम्बवान, बोरो, बुबुर आदि) में भारतीय मन्दिरों की तरह शिखर शैली तथा बाली के देवालयों में मेरुशैली मिलती है।[12] वहाँ शैव, वैष्णव, बौद्ध मत मानने वाले मिलते हैं जबकि अधिसंख्य शैव होने के बावजूद त्रिदेव मन्दिर मिलते हैं। परमशिव (अंतितिय) को वे दीपाधीश्वर मानते हैं। स्याम देश तो गत शताब्दि तक भारत का अंग रहा। वहाँ की भाषा में संस्कृत एवं पाली का मिश्रण मिलता है। गणपति गणेश को वहां शिल्प का देवता मानते हैं। मनुस्मृति उनके विधान का आधार रहा तथा मनु को वहाँ पर रथ्यमनु कहा गया है।

इतिहासकार पोकाक ने (पूर्व में उद्धृत ग्रंथ में) कहा है कि मिस्र की नदियों तथा स्थानों के नाम भारतीय नाम से साम्यता रखते हैं। राजाओं के नामों (रैमसेज आदि) का उद्गम राम से है। मिस्री भाषा के शब्दों में संस्कृत का रूपान्तरण मिलता है। प्रोफेसर हीरेन ने 'The Historical Researches' में कहा है कि प्राचीन मिस्रवासी एवं भारतीय एक ही थे तथा मिस्र और यूनान के संस्थापक भारतीय आर्य थे। पोकाक ने तो मगध नरेशों द्वारा यूनान की स्थापना की बात लिखी है। मगध की राजधानी (राजगृह) के वासी गृहका कहे जाते थे, उसी से ग्रीक शब्द बना। यूनानी कवि ऐशियस की मान्यता थी कि मैकडेन तथा मैकडोनियन शब्द मगध का अपभ्रंश है। यूरोप संस्कृत के हरियूपिया से बना है। ऋग्वेद[14] के अनुसार इंद्र ने दैत्य वरशिख के पुत्रों का वध हरियूपिया में किया था। कैलास गिरि को यूनान में कैनन तथा रोम में कोकिन पर्वत कहते हैं। यूनानी देवी-देवताओं, धर्म-विधान, साहित्य, कला आदि पर भारतीय छाप स्पष्ट परिलक्षित होती है। रोम शब्द भी राम का रूपान्तरण है। रोमन देवी-देवता भी भारतीय देवमण्डल के समरूप हैं। यह सब यूनानी कवि ऐशियस की कविताओं में वर्णित है।

प्रो. बेलर ने एक स्थान पर लिखा है[14]- फिलिपीन्स की रीति-रिवाजों, वेषभूषा, आभूषणों को देखते हुए मेरी यह निश्चित धारणा है कि वहाँ की संस्कृति का आदि स्रोत तथा उद्गम स्थल भारत ही है। इस लेख में बेलर ने प्रो. ग्रोवर द्वारा पिपुल्स ऑफ फिलिप्पाइन (1919) में प्रस्तुत मत की पुष्टि करते हुए लिखा कि फिलिप्पीन की परम्परायें, प्रथाएं, रीति-रिवाज, लेखनशैली, नाम, कला-कौशल, विशुद्ध भारतीय हैं। भारतीयों की ही भाँति वे भी मानते हैं कि ग्रहण का कारण राहु केतु हैं। वहाँ की भाषा (तंगलांग) में संस्कृत के शब्दों का वाहुल्य है। वे दिन को पाँच भागों- महेश्वर, काल, श्री, ब्रह्मा तथा विष्णु में विभक्त करते हैं।

जर्मन विद्वान म्योर करते हैं कि जर्मन लोग आदि पुरुष मनु को ही मानते हैं, वही अंग्रेजी में MAN हो गए। जर्मनवासी स्वयं को आर्य कहते हैं। जर्मन शब्द संस्कृत के शर्मन से बना है। वहाँ स्वास्तिक चिह्न भारतीय संस्कृति से ही ग्रहण किया गया है। वेद ही जर्मनी में आदि ग्रंथ माना जाता है। वहाँ के देव मण्डल का वर्णन भी पूर्णतया भारतीय है। स्केण्डनेवियन ग्रन्थ ऐदा (Edda) शब्द वेद की ध्वनि देता है तथा वेद का समरूप है। कहते हैं कि ईसा पूर्व 500 में यहाँ महात्मा ओडेन का आगमन हुआ था।

अमेरिका के बॉरेन होमबेल्ट के अनुसार अमेरिका में हिन्दू प्रतीक, चिह्न, स्मारक बहुतायत से मिलते हैं। प्राचीन अमेरिकी रेड इण्डियन की जीवन शैली, संस्कृति, सभ्यता आदिकालीन भारतीय रही। वहाँ सती प्रथा भी थी। सूर्योपासना भी होती थी। दक्षिणी अमेरिका में उत्खनन से शिवलिंग, गणेश, नाग प्रतिमायें मिलने से इनकी पूजा का प्रमाण मिला

है। वर्णव्यवस्था भी वहाँ प्रचलित रही। इतना ही नही बल्कि पोकाक के अनुसार पेरू तथा भारतीय सामाजिक प्रथाओं में अद्‌भुत साम्य है। वहाँ का रामोत्सव भारतीय रामलीला जैसा ही रहा। प्राचीन अमरीकन भवनों की निर्माण शैली भारतीय स्थापत्य कला से प्रेरित रही। प्रो. स्क्वायर के अनुसार मध्य अमेरिका में बौद्ध स्तूपों का पाया जाना तथा मैक्सिको में शिव, गणेश, काली के मूर्तियों की अवशेषों से पता लगता है कि वहाँ ये सभी उपास्य थे तथा पूजार्चना में घण्टे-घडियाल का भी प्रचलन था।

उपर्युक्त विवरणों से यह स्पष्ट होता है कि भारतीय धर्म, दर्शन, सभ्यता, संस्कृति विश्वव्यापी रही। मारीशस, फीजी, त्रिनिदाद, इण्डोनेशिया, थाईलैण्ड आदि में आज भी इनका प्रभुत्व है। भारत से बाहर अन्यत्र भारतीय संस्कृति की उपस्थिति विश्वगुरु की भूमिका का का पता चलता है।

संदर्भ

1. डॉ. मुकुन्द तिवारी : हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली - पृष्ठ 219-220। **2.** समुद्रं गच्छ स्वाहा अंतरिक्षं गच्छ स्वाहा देवं सृष्टिं गच्छ स्वाहा (यजुर्वेद 6.21)। **3.** समुदयान कुशला देशकालर्थ दर्शिनः। स्थापर्यान्त तु यां वृत्तिं सा तत्राधिगमं प्रतिः।। (मनुस्मृति 8/157)। **4.** शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रिय जातयः। वृषलत्वंगता लोके ब्रह्मणादर्शने न च। पौण्ड्रका श्चौण्ड द्रविणाः काम्बोजाः यवनाः शकाः। पारदा पहुवाश्चीनाः किराताः दरयाः खसाः। **5.** ब्रह्मक्षत्र प्रसूनाश्च वैश्याः शूद्राश्चभजवाः। **6.** प्रागदर्शत प्रत्यक काल कवनात् दक्षिणेन हिमवन्त उत्तरेण परियात्रम्। कवि कालिदास ने कुमार सम्भवम् का प्रारम्भ ही 'अस्तुतरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नागनगाधिराजः। पूर्वापरौतोय निधीवगाह्य स्थिति पृथिव्यां ऽव मानदण्डः' कह किया है। विष्णुपुराण करता है 'उत्तरं यद समुद्रस्य हिमालयैश्चच दक्षिणं वर्ष तद भारतनामाः भारतीय इत्र सन्ततिः।' **7.** भगवत शरण उपाध्याय : पुरातत्व के रोमांस पृष्ठ 90-93, सांस्कृतिक निबन्ध पृष्ठ 120-124। **8.** मनुस्मृति (10/43-45) से ध्वनित होता है कि ईरानी मूलतः क्षत्रियों के ही वंशज थे। **9.** चीनारस्म चीनांश्च निसरांश्च पुनः पुनः अन्विष्यं वरदां हिमवन्त तथैव च/ (वाल्मीकि रामायण, किष्किन्धा काण्ड)। **10.** यवनाः किराताः गान्धाराश्चीना शवर वर्वराः (शान्तिपर्व 6/13)। **11.** इतिहासकार डॉ. मजूमदार की कृति 'चम्पा' में इसका विस्तृत वर्णन उपलब्ध है। **12.** मेरुशैली में निर्माण विषम संख्या में होता है जो उत्तरोत्तर छोटे होते जाते हैं। इसके निर्माण में काष्ठ, प्रस्तर तथा बाली द्वीप में मिलने वाली खास घास (जो खस भी तरह ही होती है) का प्रयोग किया जाता है। **13.** वधीन इन्द्रवरशिखस्य शेषः यति हरियुयियात्। **14.** द्रष्टव्य - फिलिप्पाइन मैगजीन (1928)- साप्ताहिक हिन्दुस्तान के एक लेख से उद्‌धृत।

सहायक ग्रंथ

1. डॉ. आद्यादत्त ठाकुर : वेदों में भारतीय संस्कृति।

2. ज. ला. नेहरू : डिस्कवरी ऑफ इंडिया।

3. गोपाल जी गुप्त : हिन्दुओं के धर्मग्रन्थ, हिन्दूधर्म के मूलभूत आधार स्तम्भ।

4. 'कल्याण' गीताप्रेस गोरखपुर : वेद कथा अंक, हिन्दू संस्कृति अंक, महाभारत, रामायण (वाल्मीकि)।

5. पत्रिकायें : साप्ताहिक हिन्दुस्तान, कादम्बनी, नवनीत, धर्मयुग, संस्कृति।

प्रेमांगन, एमआईजी 292, कैलास बिहार
आवास विकास योजना संख्या-प्रथम
कल्याणपुर, कानपुर-208017
दूरभाष - 0512-257175

महोदय! कागज के मूल्य और मुद्रण व्यय में अप्रत्याशित वृद्धि के कारण वैचारिकी का प्रति अंक मूल्य 70 रु. और वार्षिक सदस्यता शुल्क 400 रु. किया गया है। आशा है आपका सहयोग पूर्ववत मिलता रहेगा।

- शंकरलाल सोमानी (प्रबंध संपादक)

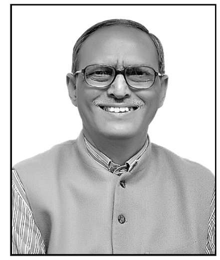

आध्यात्मिकता : एक विमर्श

राकेश भारतीय

विज्ञान और प्रौद्योगिकी की कृपा से भौतिक समृद्धि की सीढ़ी दर सीढ़ी चढ़ते जा रहे किसी व्यक्ति को आध्यात्मिकता की अवधारणा ही सिरे से फ़ालतू लग सकती है। वहीं कोई और व्यक्ति कह सकता है कि 'आध्यात्मिकता' तो सहज सुलभ है, फलां बटन दबाओ और उस चैनल की 'आध्यात्मिकता' में सराबोर हो जाओ, फलाने 'बाबा' के चरण पखारो और तुरंत 'आध्यात्मिकता' का करंट महसूस कर लो, फलाने भगवान की मूर्ति पर हज़ारों रुपये चढ़ा डालो और बदले में 'आध्यात्मिकता' लेकर चले आओ...।

यहाँ तक कि हिन्दू वाली 'आध्यात्मिकता', मुसलमान वाली 'आध्यात्मिकता', वैष्णव वाली 'आध्यात्मिकता', शैव वाली 'आध्यात्मिकता', सूफी वाली 'आध्यात्मिकता' पर गरमागरम बहस से लेकर एक- दूसरे का सिर फोड़ने पर तुले व्यक्ति भी देखे जा सकते हैं। आखिरकार आध्यात्मिकता है क्या चीज? क्या चरम भौतिकता से आक्रांत वर्तमान काल में आध्यात्मिकता ग्राह्य है भी, इसकी कोई उपयोगिता है भी? क्या धर्म विशेष, स्थान विशेष, सम्प्रदाय विशेष की जैसी अलग-अलग आध्यात्मिकता की किस्में भी हैं? और, आध्यात्मिकता की कोई मोटा-मोटी सर्वमान्य अवधारणा तय भी हो गई तो उस आध्यात्मिकता के स्तर तक पहुंचने का कोई रास्ता आसानी से समझ में आ जाने वाली शब्दावली में बताया-समझाया जा सकता है?

ज्यादातर लोग धार्मिकता और आध्यात्मिकता को एक ही चीज मान बैठते हैं। एक तो इस दुनिया में 'धर्म' और 'धार्मिकता' की इतनी किस्में ईज़ाद हो गई हैं, इसे लेकर इतने दंगे-फसाद हो चुके हैं कि उनका वास्तविक अर्थ ही ओझल हो गया है। दूसरे, प्रचलित अर्थ में 'धार्मिक' होते हुए आध्यात्मिकता की ओर गति हो सकती है पर यह कोई अनिवार्य शर्त नहीं। आध्यात्मिकता, अपनी सहज व्याख्या में, सार्थक और उपयोगी कर्म करते हुए अपने को अपने समाज या देश के लिए ही नहीं पूरी सृष्टि के लिए परम प्रासंगिक बनाते हुए अपने अस्तित्व के सही मायने खोजने का परम पुरुषार्थ है।

तो क्या आध्यात्मिकता एक गूढ़ चीज़ है, सुदूर कहीं अवस्थित और बेहद श्रमसाध्य तरीके से ही हाथ में आने वाली? नहीं! आध्यात्मिकता हमारे अस्तित्व से अलग कोई दूर रखी या दूर छिटकी हुई चीज नहीं है। यह हमारे ही अंदर मौजूद है; तमाम तरह के अज्ञान से आवृत्त हुए हम

न इसे देख पा रहे हैं, न इसे जगा पा रहे हैं। 'कठोपनिषद्' कितने स्पष्ट रूप से हमारे वास्तविक स्वरूप को हमारे ही अंदर अवस्थित बता रहा है।

"अगुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति।"

अब कुछ कमियां, कुछ मूर्खताएं, कुछ दुष्कर्म हमारे वास्तविक स्वरूप से हमें दूर रखने का कारण बन रहे हैं तो इनसे निजात पाने का रास्ता क्या हो, आध्यात्मिकता की वास्तविक अनुभूति का रास्ता क्या हो, या तो हम खुद ही अपने बुने मायाजाल को अपनी बुद्धि से काटने में लग जाएं या पहले अपने परम पुरुषार्थ से मायाजाल काटकर आध्यात्मिक अनुभूति हासिल कर चुके महापुरुषों के लिखित-मौखिक रूप से मौजूद अनुभवों से कोई सबक लें।

पहले, प्राचीन ग्रंथों की सामग्री और ज्ञात आध्यात्मिक महापुरुषों की लिपिबद्ध बातों पर चर्चा करें। भारतभूमि हज़ारों वर्षों से आध्यात्मिक अनुभूतियों की केंद्रस्थली रही है, वेद-उपनिषद से लेकर एक से बढ़कर एक संत-महात्मा के अनुभवों के विवरण हमारे मार्गदर्शन के लिए उपलब्ध हैं।

अगर आध्यात्मिकता इस तरह से नकल मारकर, रट्टा लगाकर आ जाये तो गूगल कर ही आध्यात्मिक क्यों न हो लें। दरअसल, सैकड़ों-हजारों वर्ष पूर्व के महापुरुषों के आध्यात्मिक अनुभव देश-काल की कुछ सीमाओं के अंदर उनकी शब्दावली में उपलब्ध हैं। तब से माया के न जाने कितने स्वरूप अवतार ले चुके है, दुनिया में पता नहीं क्या-क्या हो रखा है। दूसरे, कितने ही सत्यान्वेषक हो सकते हैं और उनकी आन्तरिक संरचना में कुछ न कुछ स्थूल-मूक्ष्म भेद है ही। वे न एक ही रास्ते से आध्यात्मिक अनुभूति तक पहुँच सकते हैं, न एक ही तरह की बाधाएं उनके रास्ते में आती है। कारण यह है कि किसी का सामर्थ्य इतना है कि चार-पांच झाड़-झंखाड़ साफ करने से ही रास्ता दिख जायेगा तो किसी ने इतने झाड़- झंखाड़ बटोर रखे हैं कि रास्ते का कोई सूत्र सपने में भी नहीं दिख रहा । मोटे तौर पर, सत्य का संधान करने की सारी सदिच्छा होने के बावजूद, सत्यान्वेषकों को रास्ता अपने ही तरीके से तय कर आध्यात्मिकता को हासिल करना होगा ।

कुछ महापुरुषों के संदर्भ से ही बात स्पष्ट करते हैं। विवेकानंद अपने काल के हिसाब से सम्यक् आधुनिक शिक्षा प्राप्त थे, प्राचीन आध्यात्मिक ग्रंथों की सम्पदा से भलीभांति परिचित भी थे। खुद आध्यात्मिकता के वास्तविक स्वरूप से बखूबी सम्पन्न होने के बाद उन्होंने देश-विदेश के लोगों का इस दिशा में मार्गदर्शन करने का विकट बीड़ा उठाया, अपने योग्य शिष्य गुडविन द्वारा लिपिबद्ध किये भाषणों का 'राजयोग' जैसा परम उपयोगी पुस्तक-संस्करण आने वाली पीढ़ियों के मार्गदर्शन के लिए छोड़ा भी। पर आज इक्कीसवीं सदी में विवेकानंद के भाषणों में दिये गए कई संदर्भ, कई विवरण नये जमाने के लिए उपयोगी ढंग से व्याख्यायित करने होंगे, मूल भावना भले वही रहे। अगर हम तोतारंटत या बाबावाक्य के रास्ते से उन महापुरुषों का वचन ग्रहण करने की कोशिश करेंगे तो उलझ भी जायेंगे, खिन्न भी हो जायेंगे। चाहे वेद-उपनिषद हों, चाहे विवेकानंद जैसे महापुरुषों के प्रवचन, हमें उनमें से मुख्य सूत्र ग्रहण करना है, अपने देश-काल में उनकी उपयोगिता अपने आध्यात्मिक लक्ष्य तक पहुँचने के संदर्भ में समझनी है। यही ऐसी आध्यात्मिक थाती की आज वास्तविक उपयोगिता भी होगी, हमारे सत्य-संधान में उनकी सार्थकता भी होगी कबीर कहते हैं -

"पिंजर प्रेम प्रकासिया, जागी जोति अनंत संसा खूटा सुख भया, मिला पियारा कंत।"

इस पिंजर यानी शरीर में ज्योति अपने ही प्रयत्नों से जगेगी, अपने ही प्रयत्नों से सारे संशय दूर होकर सुख मिलेगा और परम तत्व मिलेगा। इस पुरुषार्थ में महापुरुषों के वचन या वे साक्षात ही आपका मार्गदर्शन कर सकते हैं, कुछ सूत्र दे सकते हैं पर बिना किसी प्रयास के हममें आध्यात्मिकता में कहीं ऊपर से टपका नहीं सकते।

हमारी आध्यात्मिक थाती में हमारे मार्गदर्शन के लिए एक बहुत महत्वपूर्ण सूत्र है- "एक सद्विप्राः बहुधा वदन्ति ।" सत्य तो एक ही है, विद्वान लोग उसे अलगअलग ढंग से व्याख्यायित करते हैं। हिन्दू वाला सत्य, मुसलमान वाला सत्य जैसा कोई भेद है नहीं, व्याख्या के तरीकों में निहित थोड़ी बहुत भिन्नता को ही हम अलग-अलग सत्य मानने की मूर्खता कर लट्ठ भांजने में लगे हुए हैं। रामकृष्ण परमहंस ने तो बाकायदा महीनों कभी हिन्दू, कभी मुसलमान तो कभी ईसाई की तरह आचरण करने का प्रयोग किया और बाकी सत्यान्वेषियों के मार्गदर्शन के लिए कह गये- "सारे रास्ते वहीं जाते हैं"। उधर, हिन्दू-मुसलमान होने को लेकर दुराग्रही हो रखे लोगों के बारे में कबीर कह ही गए हैं- "दोउन राह न पाई"।

वैसे, अभेद की अनुभूति, सत्य के संधान में इसकी अनिवार्य आवश्यकता पर "ईशावास्योपनिषद" का बेहद स्पष्ट सूत्र हज़ारों वर्षों से हमारे मार्गदर्शन के लिए उपलब्ध है -

"यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति।

सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते।"

ये सब सूत्र एक ही परम सत्य से सबका अटूट सम्बन्ध होने की ओर व परम सत्य की अनुभूति से सारे भ्रम-भेद के निवारण की और संकेत कर रहे हैं। पर उस अनुभूति तक हम पहुँचें कैसे? क्या सत्य के उद्घाटन में समर्थ वैसी आध्यात्मिक अनुभूति इक्कीसवीं सदी के बेहद उलझे तथा भ्रम से आवृत्त वातावरण में संभव है भी? संभव है तो आखिरकार किस तरह के उद्यम से, किस पद्धित से? और समय कहाँ है इस सबके लिए?

पिछले दो सौ वर्षों में, पहले श्रमसाध्य-दुस्साध्य रही चीजें मात्र एक बटन दबाने जैसी आसानी से उत्तरोत्तर सुलभ होती जा रही हैं। सब कुछ जैसे एक 'कमाडिटी' में तब्दील होता जा रहा है, और वह कमाडिटी ईकामर्स जैसे माध्यमों से 'चट चाहो पट हाजिर' भी हो रही है। इस सारी 'सुविधा' ने हमें विचित्र किस्म का आलसी बना दिया है, किसी चीज को पाने के लिए थोड़ा प्रयत्न करने की आवश्यकता हमें उससे विमुख ही करती है । इसी तुरंता प्रवृत्ति के चलते छद्म-आध्यात्मिकता की सैकड़ों दुकाने दृश्य-श्रव्य माध्यमों पर सवार होकर ठीक हमारे ड्राइंग रूम तक में हमें 'आध्यात्मिकता', अन्य 'आइटमों' की तरह हथेली पर 'डेलिवर' कर देने का दावा करती दिख रही हैं। बस मुंहमांगा 'दाम' उन्हें 'अर्पित' कर दीजिये, किस्म-किस्म की 'आध्यात्मिकता' से पलक झपकते ही सराबोर हो जायेंगे हम। ये दुकानें हमारी ही कमजोरी के बूते पर 'खुल' रही हैं, हमारी कमजोरी पर ही सवार होकर फल-फूल रही हैं । तो पहले हम उन कमजोरियों, नकारात्मक प्रवृत्तियों, मूर्खताओं इत्यादि पर ही बात लें जो वांछित आध्यात्मिकता की प्राप्ति में बाधा बनकर खड़ी हो जाती हैं। इन पर बात करते-करते प्रकारांतर से वह रास्ता भी स्पष्ट हो जाएगा जिस पर चलते हुए आध्यात्मिकता की मंजिल तक पहुँच पायेंगे ।

इक्कीसवीं सदी की आपादमस्तक भौतिकता में धंसे लोग 'सादा जीवन, उच्च विचार' का पुराना सूत्र कब का परे झटक चुके हैं। सिर्फ अपनी आवश्यकता बनी चीजों के संधान तक अपना प्रयास केन्द्रित रखना वे 'पिछड़ापन' मानने लगे हैं, उन्हें तो 'आज ये चाहिए कल वो चाहिए' की दौड़ ही परम पुरुषार्थ का पर्याय लगती है। पर गहराई से देखें तो हमारी तमाम समस्याओं के मूल में है ही गैर जरूरी चीज़ों के पीछे सतत भागते रहना। आध्यात्मिकता के रास्ते में यह बड़ी बाधा है।

पतंजलि के 'योगसूत्र' का सूत्र 'योगः चित्तवृत्तिनिरोधः' आध्यात्मिकता की सीढ़ी की इसी प्रथम शर्त की ओर संकेत करता है। यही वह पहला और अनिवार्य अनुशासन है जो आध्यात्मिकता के लिए प्रारंभिक पात्रता तय करता है। अगर हेलीकाप्टर आपके काम-धंधे के लिए आवश्यक है और पास में खरीदने लायक धन है, तो जरूर खरीदिए उसे, पर

इससे क्या सिद्ध होगा कि पास के धन से हेलीकाप्टर किराये पर लेकर दूल्हे को विवाह-स्थल पर सीधे आसमान से उतारें। पड़ोस के लोग या बंधु-बांधव जानते ही हैं कि कितनी माया बटोर रखे हो, कैसे बटोर रखे हो। उन्हें क्या दिखलाओगे इससे! अजनबी या तमाशबीन तो तुम्हारी हेलिकॉप्टरी मूर्खता पर हंस लेंगे या दो मिनट कोस लेंगें। हां, इस हेलिकॉप्टरी मूर्खता से ये जरूर होगा कि तुम्हारे लिए आध्यात्मिकता का रास्ता बेहद कठिन हो जाएगा। चाहे जिस 'गुरु' या 'बाबा' के दरबार में हाजिरी लगाओ, चाहे जिस भगवान की मूर्ति के आगे चढ़ावे चढ़ाओ, तुम्हारी ऐसी अहंकार-जनित मूर्खता तुम्हारी पात्रता पर कालिख पोतेगी ही पोतेगी।

आध्यात्मिकता सीमित दृष्टि से सीमित दायरे में ही सबकुछ करने-धरने की मनःस्थिति से मिल ही नहीं सकती। यह तो असीमित का अनुसंधान है, व्यापक से अपने सीमित अस्तित्व को जोड़ते हुए उस अस्तित्व के असल मायने जान लेने का पुरुषार्थ है। जब आप सैकड़ों-हजारों वर्षों तक हुए दूसरों के अनुसंधानों, संसाधनों, उद्यम इत्यादि की मलाई आज आराम से काटे जा रहे हैं तो आपने कैसे मान लिया कि आपका अभी का ये सब, आपके और बस आपके लिए है। ढेर सारा धन इकट्ठा हो गया है, आपकी आवश्यकता से कहीं ज्यादा, तो महापिछड़े किसी गांव में स्कूल न होने की दशा में स्कूल खुलवा दीजिये, धन के अभाव में इलाज न करा पा रहे किसी गरीब का इलाज करवा दीजिये। कुछ नहीं तो अपने ही किसी दूरदराज के कंगाल-बेरोजगार रिश्तेदार को कोई काम-धंधा पकड़वा दीजिये बजाय विवास-स्थल पर हेलिकॉप्टर से दूल्हा टपकवाने की गैर-उत्पादक नौटंकी में नोट फूंकने के। आध्यात्मिकता स्वार्थ से परमार्थ की ओर जाने का उद्यम है, इस उद्‌यम में ही अपने होने की सार्थकता समझ लेने से अंतर्मन में 'जागी जोति अनत' सम्भव होती है ।

स्वार्थ से परमार्थ की ओर जाना ही नहीं, स्वार्थ और परमार्थ के समन्वय के संदर्भ में एक उदाहरण हमारी सभ्यता जितनी ही प्राचीन चीनी सभ्यता से लें। पहले तो यह समझ लें कि भारत की धरती पर आध्यात्मिकता की अवधारणा विशद रूप से व्याख्यायित हुई जरूर है पर ऐसा नहीं है कि और देश इससे अछूते रहे हैं। चीनी सभ्यता के सर्वाधिक मान्य दार्शनिक कन्फ्यूशियस ने आध्यात्मिकता की, परोक्ष रूप से सही, पर बड़ी आसानी से समझ में आने वाली व्याख्या की है। उनकी स्थापना के अनुसार आदर्श व्यक्ति वही है जो अपनी तरक्की के लिए काम करने के साथ-साथ समाज की तरक्की के लिए भी काम करता है, और क्या चाहिए।

समाज की तरक्की के लिए काम करने वाला तो खुद ब खुद आध्यात्मिकता को व्यावहारिक रूप से न सिर्फ दिखाता चल रहा है, बल्कि अन्य लोगों के लिए आध्यात्मिकता के अनिवार्य अनुशासन को दिन-प्रतिदिन व्याख्यायित करता भी चल रहा है। कर्मयोगी की भारतीय अवधारणा के बेहद करीब यह स्थापना समाज के अधिकतर लोग लागू करते चलें तो उनका तो, देश समाज धरती का सर्वतोमुखी कल्याण स्वतः हो जाएगा।

अब आयें 'समय नहीं है' की शिकायत पर, आध्यात्मिकता के संधान के संदर्भ में, चार घंटे टेलिविज़न पर घिसे-पिटे या हास्यास्पद सीरियल देखने के लिए समय है, शराब के पेग दर पेग व परनिन्दा-पुराण बांचने हेतु घंटों समय है, मोबाइल फोन पर सतही चैटिंग करने के लिए समय ही समय है, पर अपने सामने के फ्लैट में रह रहे पड़ोसी के दुःख में सहानुभूति के दो बोल बोल आने के लिए समय नहीं है, यहाँ तक कि अपने बूढ़े हो रहे मां-बाप की दिक्कतों को सुनने या उनके समाधान के लिए कोई समय नहीं है। जब 'समय' (या उसके सदुपयोग) को लेकर हमारी समझ इस कदर गड़बड़ा रखी है तो आध्यात्मिकता के लिए 'समय' न होने की शिकायत करेंगे ही। दरअसल, आध्यात्मिकता के लिए कोई

अलग से तय समय, अलग से निकाला गया समय इत्यादि वांछित है ही नहीं। अपने सहज कार्य- व्यापार में उसकी चहुंमुखी उपयोगिता का भाव पिरोलें, अपनी उन्नति के लिए वांछित कर्म को पूरे समाज की उन्नति के लिए वांछित कर्म की ही कड़ी मानकर चलते चलें तो आध्यात्मिकता उसी कर्म का एक आयाम लगेगी। कबीर सूत बुनते रहे, रैदास जूते गांठते रहे और अपना सहज-सामान्य काम करते हुए आध्यात्मिकता की ऊँचाई ऐसे साध गए कि आनेवाली तमाम पीढ़ियों के लिए प्रतिमान बन गए। विवेकानंद की अप्रितम स्कॉटिश शिष्या भगिनी निवेदिता ने जब उनसे पूछा कि सन्यासिनी बनने के लिए किस प्रकार की योग्यता विकसित करनी होगी तो स्वामी जी ने कहा- "तुम जैसी हो, वैसी ही रहो"। निवेदिता ने, लंदन में अध्यापन कर चुकी स्कॉटिश महिला ने, अपनी क्षमता के अनुरूप कार्य पकड़ लिया शिक्षा में तब बेहद पिछड़ी भारतीय महिलाओं को शिक्षित करने का। चमत्कार की चाह आध्यात्मिकता की राह में एक बड़ी बाधा है। विडम्बना यह है कि आध्यात्मिकता का संधान कर रहे सौ में से नब्बे लोग 'चमत्कार' के ट्रैप में जाने-अनजाने फंसकर लक्ष्य से भटक जाते ही हैं। 'चमत्कार' की चाह के मूल में वही पुरानी बीमारी है, सबकुछ 'शार्टकट' से हासिल करने की प्रवृत्ति, जबकि आध्यात्मिकता में कोई शार्टकट चलता ही नहीं। इस चाह के दो पक्ष है, पहला 'चमत्कार' से सम्पन्न 'आध्यात्मिक' हस्तियों की कृपा हासिल कर अपनी समस्याओं को हल कर लेना और दूसरा खुद 'चमत्कारिक' शक्तियां हासिल कर लेना । कोई भी सच्ची आध्यात्मिक हस्ती चमत्कार-प्रदर्शन नहीं करती । रामकृष्ण परमहंस ने इसका स्पष्ट रूप से निषेध किया है। हाँ, इन हस्तियों ने सही ढंग से मार्गदर्शन कर किसी परेशान व्यक्ति का भला किया तो उसे 'चमत्कार' की संज्ञा नहीं दी जा सकती, वह तो उस मार्गदर्शन की वजह से उस व्यक्ति द्वारा अपनी ही क्षमताओं का सदुपयोग है ।

वैसे भी, सबसे बड़ा 'चमत्कार' तो यही होगा न कि पैदा हुआ कोई व्यक्ति मरे ही न, ऐसा आजतक नहीं हुआ। दूसरा बड़ा 'चमत्कार' ये हो सकता है कि किसी को कोई व्याधि ही न धरे। ये भी नहीं हुआ कभी, रामकृष्ण परमहंस से लेकर रमण महर्षि तक असाध्य व्याधि से ग्रसित होकर ही देह छोड़े। कबीर तो स्पष्ट कह गये हैं- "देह धरे को दंड है, सब काहू को होय" तो, चमत्कार की चाह के चलते नाना प्रकार की छद्म-आध्यात्मिकता के दुकानदारों के हाथों ठगे जाने के बजाय अपनी कमजोरियों पर विजय प्राप्त कर अपनी क्षमताओं का देश-समाज-धरती के हित में सदुपयोग करने का प्रयास करें, आध्यात्मिकता की राह अपने-आप खुलती चली जाएगी।

आप सेवानिवृत्त अध्यापक हैं, पेंशन अच्छी मिल रही है, घर-परिवार की कोई समस्या नहीं, जरा खोज निकालिए दर्जन भर प्रतिभावान परिवार से गरीब बच्चों को और उन्हें निःशुल्क ही पढ़ाना शुरू कर दीजिये। कुछ बच्चों की जिन्दगी बन जाएगी, शायद उनमें से कुछ, जिन्दगी बनने के बाद, आपके उदाहरण से दूसरों की जिन्दगी बनाने में प्रवृत्त हो जायें। आप रोज आते-जाते अपने मुहल्ले या इलाके में चहुंओर बिखरे कूड़े-कचरे पर झल्लाते रहते हैं, कुछ नहीं तो छुट्टी के दिन ही निकल पड़िये। वैसे ही झल्लाने में लगे चार लोगों के साथ खुद अपने हाथों से कुछ सफाई करने के लिए। हवा-पानी बहुत थोड़ी ही शुद्ध होगी पर क्या पता आपकी यह पहल हवा-पानी शुद्ध करने की कड़ी बनाते हुए बड़ी सारी बीमारियों के संभावित शिकार सैकड़ों बच्चों-बूढ़ों को बचा ले।

आपने बहुत धन कमा लिया है, मान लेते हैं कि अपनी मेहनत से ही, पर इससे क्या सिद्ध हो जाएगा कि भगवान की 'कृपा' से अभिभूत होकर आप उस धन के एक हिस्से से भगवान की मूर्ति को सोने का मुकुट पहनाने जा रहे हैं। भगवान तो न आपके स्वर्णमुकुट के भूखे हैं न, आपकी 'भक्ति' के इस

'स्वर्णिम' प्रदर्शन के, हाँ, इसके बजाय उस धन को किसी जरूरतमंद की मदद या सार्वजनिक उपयोग की कोई चीज़ मुहैया करवाने में लगा दें तो जरूर भगवान अपने अन्य बंदों का खयाल रखने की आपकी समझदारी या सदाशयता को निगाह में ले लें।

आप बड़े भारी वैज्ञानिक है, देश-विदेश की दर्जन भर संस्थाओं में आपकी 'वैज्ञानिक बुद्धि' का डंका बज रहा है, लाखों डालर पीट रहे हैं आप, अच्छी बात है। पर क्या आप किसी सामान्य व्यक्ति की किसी व्यावहारिक परेशानी का हल निकाल पाये अपनी 'बुद्धि' से? लगा दीजिये इस ओर अपनी 'बुद्धि' क्या पता उसके प्रताप से आप आनेवाली तमाम पीढ़ियों के लाखों लोगों का भला करने लायक कोई आविष्कार करने में सफल हो जायें। अरे! आध्यात्मिकता जैसी 'बड़ी' चीज़ का ऐसा सरलीकरण! इन 'छोटी-छोटी' बातों से आध्यात्मिकता जैसी 'उच्च' अनुभूति तक पहुँचेगा कोई? यह सरलीकरण नहीं है । उन मूलभूत और प्राथमिक शर्तों की और संकेत है जिन्हें पूरा किये बिना आध्यात्मिकता की राह दिखती नहीं, उन 'छोटी-छोटी' पर अति-आवश्यक सीढ़ियों की ओर नज़र डालने का आग्रह है जिनपर चढ़े बिना आध्यात्मिकता की 'बड़ी' या 'ऊँची' सीढ़ी पर आजतक कोई चढ़ा नहीं। आध्यात्मिकता की राह में कोई काम छोटा या बड़ा नहीं होता, बस इसके राही को 'निरर्थक' और 'सार्थक' काम की तमीज़ विकसित कर सार्थक कामों में अपने को प्रवृत्त करना होता है। रमण आश्रम में लक्ष्मी रंगनाथम रसोईघर में सहायक के रूप में काम करती थी। एक दिन जब वे इडली बनाने के लिए चावल पीस रही थी तो अचानक रमण महर्षि आ गए और बोले- "तुम यह सब अकेली क्यों कर रही हो?" फिर महर्षि लक्ष्मी के साथ बैठ गए और मिलकर चावल-पिसाई का काम पूरा करवा दिया। दरअसल, महर्षि रमण समय-समय पर दाल पीसना, सब्जी पकाना जैसा काम आश्रम के रसोईघर में जाकर कर आते थे। उनके पास एक पुराना सा टीन का बक्सा था जिसमें वे पक्षियों वगैरह को खिलाने के लिए कुछ सामग्री भी रखा करते थे। उस महान आध्यात्मिक हस्ती के लिए आध्यात्मिकता व्यावहारिक जीवन से बिलकुल कटी हुई चीज़ नहीं थी, व्यावहारिक जीवन के सार्थक और उपयोगी कामों की कड़ी दर कड़ी से ही तय होनेवाली आगे की कड़ी थी।

इस आलेख के अंत में, एक बार फिर, उन बुनियादी बातों पर बल देने का प्रयास है जो आध्यात्मिकता की ओर सहज प्रवृत्त करती है, उसकी राह आसान करती है और उन बुनियादी बातों को सहज ही ग्राहय काव्य में हमारे संत-कवियों ने हमारे मार्गदर्शन के लिए छोड़ रखा है - - -

(1) गृहस्थ-आश्रम में बने रहकर और अपना पारिवारिक काम-धंधा करते हुए ही आध्यात्मिकता की राह अप्रितम रूप से तय करनेवाले संत कबीर वाह्य प्रतीकों-आडम्बरों में ही भटक जाने वाले लोगों को समझाते हैं -

"तुरक मसीति देहरे हिन्दू। दुहूंठा राम खुदाई।
जहाँ मसीति देहरा नाहीं। तंह किसकी ठकुराई?"

(मुसलमान अपने खुदा का वास मस्जिद में बताते हैं और हिंदू अपने भगवान का वास मंदिर में, जिस जगह पर मस्जिद और मंदिर नहीं है, वहाँ कौन बसता है?)

(2) मनुष्य के बनाये भेद यथा जाति-सम्प्रदाय का भेद आध्यात्मिकता की राह में बड़ी बाधा के रूप में खड़े रहते हैं। कवियों ने बार-बार इस ओर संकेत किया है और अभेद पर अपने-अपने अंदाज में जोर दिया है। कबीर कहते हैं -

"एक बूँद, एक मल-मूतर। एक चाम, इक गूदा।
एक जोति तें सब उत्पन्ना। को बामन, को सूदा"।

(एक ही वीर्य-बिंदु से सबकी उत्पत्ति हुई है, मल-मूत्र सबका एक-सा ही है। चमड़ा भी वैसा ही, रक्त-

मांस-मज्जा भी वैसा ही है। एक ही ब्रह्म-ज्योति से सब उत्पन्न हुए हैं तो ब्राह्मण-शूद्र का सवाल कहाँ है?)

(3) संत-कवियों ने परोपकार, परदुःखकातरता, कथनी-करनी का एक होना सुख-दुःख में समभाव जैसे गुणों को आध्यात्मिक राह के पथिक के लिए अनिवार्य माना है और सरल-सहज शब्दावली में बारम्बार इसे रेखांकित कर गए हैं। मलूकदास कहते हैं-

"मलुका सोई पीर है, जो जाने पर-पीर
जो पर-पीर न जानही, सो काफ़िर बेपीर"

दरियासाहब का कहना है -

"दरिया लच्छन साधु का, क्या गिरही क्या भेख,
निष्कपटी निरपच्छि रहि, बाहर-भीतर एक"

(चाहे गृहस्थ हो या भेषधारी साधु, सच्चा संत वही है जो निष्कपट और पक्षपातरहित है और जिसकी कथनी तथा करनी एक है।)

(4) मानवसेवा को आध्यात्मिकता का ही पर्याय बताने का सन्त पलटूदास का अंदाज अनूठा है -

"हिन्दू पूजै देहरा, मुसलमान महजीद
पलटू पूजै बोलता, जो खाये दीद-बर-दीद"

(हिन्दू अपने मंदिर को पूजते हैं, मुसलमान अपनी मस्जिद को, पर पल्टू तो उस मानव-देवता को पूजता है जो सामने खाता- पीता नजर आ रहा है।)

(5) गुरु नानक अपनी मेहनत की कमाई खाने वाले तथा साथ ही दूसरों का भी उपकार करनेवालों को आध्यात्मिक पथ की सही पहचान रखने वाला बता गए हैं -

"घालि खाई किए हथहु देई
नानक राहु पछाणहि सेई"

आध्यात्मिक राह की पहचान ही नहीं, उसमें प्रवृत्त होने की सही पद्धित भी इतने सहज और स्पष्ट रूप से उपलब्ध होने के बावजूद अगर हम छद्म-आध्यात्मिकता के दुकानदारों द्वारा ठगे जा रहे हैं तो दोष हमारा है, आध्यात्मिकता की अवधारणा का नहीं।

590, डी डी ए फ्लैट्स, पाकेट-1 सेक्टर,
22 द्वारका, नई दिल्ली-110077
मो.-09968334756

प्रतिस्वर

बहुत लम्बे अंतराल के पश्चात अपनी उच्च कोटि की साहित्यिक पत्रिका वैचारिकी का सितम्बर दिसम्बर-2021 (संयुक्त) अंक प्राप्त हुआ। यह अति आनन्द तथा हर्ष का विषय है। भारत की साहित्यिक पत्रिकाओं में श्रेष्ठ यह पत्रिका ज्ञान भंडार लेकर आती है। इस बार भी यही परम्परा बनाए रखी है। आचार्य चतुरसेन का स्थान हिन्दी साहित्य में बहुत ऊँचा है और उनकी दो कृतियाँ, वैशाली की नगर वधू तथा वयं रक्षामः तो कालजयी रचनाएं हैं। अब से पचास वर्ष पूर्व यह उपन्यास पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था जो अभी तक बुद्धि को बहुत कुछ सोचने तथा जानने के लिए प्रेरित करता है। उनकी व्याख्या करने वाली कृति अर्थ-भाष्यम् पर डा. मूंधड़ाजी की प्रभावकारी लेखनी ने प्रकाश डाला है वह अति गंभीर तथा भावोत्तेजक है। ग्रन्थ के अन्त में आचार्य जी ने जो बहुत विस्तृत संदर्भिका जोड़ी है वह सारे भारतीय साहित्य का निचोड़ है। कोई भी लेखक भारतीय संस्कृति पर कुछ लिखना चाहे तो लगभग सारे संदर्भ इसी में से मिल जाएँगे। यह संग्रह करने योग्य है।

डा. हिम्मत सिंह सिन्हा
अमोलक राम कालोनी (गली-2)
कृष्णा नगर गामड़ी रोड, कुरुक्षेत्र-136118
मो. -08053049390

श्री राधा का लोकावतरण

मेवाराम कटारा 'पंक'

राधाकृष्ण युगल आज सम्पूर्ण भारत में प्रणय-युगल का पर्याय बन गया है। भारतवर्ष की सभी भाषाओं और उपभाषाओं के साहित्य में और लोक साहित्य में अपने-अपने तरीके से राधा-कृष्ण की प्रणय-लीला-प्रसंग सम्यक् रूप से वर्णित है। हिन्दी साहित्य के भक्ति काल और रीतिकाल का साहित्य तो पूर्णतः राधा-कृष्ण की प्रणय-व्यापार के वर्णन से ही विभूषित है। प्रणय- लीला-प्रसंग में पाद-विन्यास से कदम-कदम पर वसुन्धरा पावन करता हुआ प्रयागत्व को प्राप्त होता है। जैसा कि रीति-कालीन कविवर बिहारी ने कहा है -

तजि तीरथ हरि-राधिका-तन-दुति कर अनुराग।
जेहि ब्रज केलि निकुंज-मग पग-पग होत प्रयाग।।[1]

ब्रजभाषा का तो सम्पूर्ण साहित्य भण्डार ही उनकी ललित लीलाओं से भरा पड़ा है। लोक साहित्य में तो इनके प्रणय-गीत श्रद्धा पूर्वक गाये जाते हैं। वह कौन-सा रसिया है जिसमें राधा गोरी का उल्लेख न हो। रासलीला इस प्रणयी युगल का सजीव चित्रण करती है। इस प्रकार के विश्व-विश्रुत युगल के प्रणय रस का सभी सानन्द पान करते हैं और भगवद्भक्त तो ब्रह्मानन्द का अनुभव करते हैं तथा प्रार्थना करते हैं -

मेरी भव-बाधा हरौ, राधा नागरि सोय।
ज्या तन की झाँई परै, श्याम हरित दुति होय।।[2]
राधा तू वड़ भागिनी, कौन तपस्या कीन।
तीन लोक तारन तरन सो तेरे आधीन।।[3]

परन्तु इस युगल के विषय में पूर्णरूपेण हर व्यक्ति अवगत नहीं है। श्रीकृष्ण का चरित्र जैसा सर्वत्र उपलब्ध या सर्वविदित है वैसा राधा का नहीं। यद्यपि श्रीकृष्ण की प्रिया के रूप में राधा का लोकावतरण कब और कहाँ हुआ, यह एक विचारणीय प्रश्न है। तो कौन है वह राधा जो सांसारिक बाधाओं को हरती है और उसकी झांई परते ही श्रीकृष्ण हरे (प्रसन्न) हो जाते हैं। तीनों लोकों के तारन-तरन भी जिसके अधीन हैं? वह कहाँ से आई? क्यों आई? कब आई? कैसे आई? आदि अनेक प्रश्न सामने आ खड़े होते हैं। क्या मात्र वृषभान की सुन्दर पुत्री होने के नाते ही कृष्ण के मानस में समा गई?

यद्यपि श्रीकृष्ण की विविध लीलाओं का वर्णन तो सभी पुराणों, शास्त्रों और काव्यों में उपलब्ध है परन्तु वहाँ राधा का नामोल्लेख तो कुछ ही उत्तरवर्ती पुराणों और साहित्य में ही मिलता है। वैदिक वाङ्मय, आदिकाव्य रामायण, शतसाहस्री संहिता महाभारत, श्रीमद् भागवत महापुराण आदि प्राचीन साहित्य में कृष्ण के साथ राधा का नाम भी नहीं सुना जाता है। श्रीकृष्ण के साथ रास रचने वाली गोपियों में किसी भी गोपी का नाम राधा या उसका पर्यायाभिधान प्रयुक्त नहीं हुआ है। अतः स्पष्ट है कि राधा नाम का समावेश परवर्ती पुराणों एवं काव्यों में ही हुआ है। कुछ आस्थावान भक्तजन इस नाम को वेदों में भी ढूँढ़ने का प्रयत्न करते हैं। उनका अभिमत है कि वेदों में राधा शब्द का प्रयोग अनेकत्र देखा जा सकता है। उनके अनुसार-

'स्तोत्रं राधानां पते! गीर्वा हो वीर यस्य ते।
विभूतिरस्ति सूनृता।'[4]

मन्त्र में प्रयुक्त 'राधानां पते!' इस वाक्यांश में राधा पद को ही आधार मान कर वे अपने अभिमत को प्रतिपादित करते हैं परन्तु यहाँ 'राधा' पद का अर्थ गोपकन्या वृषभानुजा कृष्णप्रिया नहीं अपितु 'राधा' अर्थात धन शब्द की षष्ठी विभक्ति बहुवचन पद है, जिसका अर्थ है 'धनों के स्वामी'। जैसा कि ऋग्वेद भाष्य में आचार्य ने लिखा है - 'हे इन्द्र! राधानां पते! धनानां पालक!'[5] इति! अतः ऋग्वेद में इसका आविर्भाव स्वीकार्य नहीं है।

इसी प्रकार कुछ भक्ति भावाभिभूत भक्तजन या विद्वान ब्रह्मवैवर्त पुराण के श्लोक को आधार मान कर प्रमाण स्वरूप सामवेद से कुछ निम्न मन्त्रांश उद्धृत कर सामवेद से राता का प्रादुर्भाव मानते हैं। ये मन्त्रांश हैं -

1. अग्ने विवस्वदुषसश्चित्रं <u>राधो</u> अमर्त्य।[7]
2. त्वं नश्चित्र ऊत्यावसो <u>राधांसि</u> चोदय।[8]
3. इदं ह्यन्वोजसा सुतं <u>राधानां</u> पते।[9]
4. आशिषे <u>राध्यं</u> महे।[10]
5. एवाते <u>राध्यं</u> मनः।[11]
6. वि<u>राध</u>सा।[12]
7. हन्ता यो वृत्रं स नितोत वाज दाता मघानि मघवा सु राधाः।[13]
8. प्र<u>राधां</u>सि चोदयते महित्वना।[14]
9. मा ते <u>राधां</u>सि।[15]
10. <u>रा</u>धो अमर्त्य।[16]

उक्त मत के लोग इन मन्त्रांशों में 'राधो' आदि रेखांकित पदों को प्रमाणार्थ प्रस्तुत कर अपने मत का प्रतिपादन करना चाहते हैं। परन्तु उपर्युक्त मन्त्रांशों में जितनी वार राधा शब्द प्रयुक्त हुआ है उनमें से एक का भी अभिप्राय गोपिका राधा नहीं है। ये सभी पद तो 'राधस्' शब्द के विभिन्न विभक्तियों में प्रयुक्त पद हैं। जिनका अर्थ धन है। अतः अकाट्य प्रमाण के अभाव में सामवेद में भी गोपकन्या राधा का नाम ढूंढ़ना भी निराधार है, मात्र कल्पना है।

महाभारत जो संसार में शतसाहस्री संहिता के नाम से प्रसिद्ध है तथा विश्वकोश कहा जाता है, में भी राधा शब्द का प्रयोग मात्र सूत अधिरथ की पत्नी, जिसने कर्ण को पाला था, के लिए प्रयुक्त है। इसी कारण से कर्ण को राधेय (राधा का पुत्र) कहा जाता है। जैसा कि महाभारत में कहा गया है-

निगूहमाना जातं वै बन्धु पक्षभयात्तदा।
उत्ससर्ज्जजले कुन्ती तं कुमारं यशस्विनम्।।
तमुत्सृष्टं जले गर्भ राधा भर्ता महायशः।
राधायाः कल्पयामास पुत्रं सोऽधिरयस्तथा।।[17]

देवी भागवत में भी मात्र एक स्थान पर इसी अर्थ में प्रयुक्त है--

राधा सूतस्य भार्या वै तथासौ प्रार्थितः सुतः।
कर्णोऽभूद्बलवान् वीरः पालितः सूत सद्मानि।।[18]

महाभारत का रचना काल इतिहासविद ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी निर्धारित करते हैं। अतः यहाँ तक भी, अर्थात ई.पू. तीसरी शताब्दी तक भी राधा के नामोल्लेख के अभाव में राधा का प्राकट्य उत्तरवर्ती

ही माना जाना चाहिए। वायुपुराण के द्वितीय खण्ड के 42 वें अध्याय में तथा नारद पुराण के पूर्व खण्ड के 88 वें अध्याय में गोलोकवासी श्रीकृष्ण का गोप कन्या राधा के साथ लीला सम्पादन वर्णित है। विद्वान वायुपुराण का रचना काल 500 ई.पू. मानते हैं परन्तु महाभारत में उल्लेख न होने के कारण यह वर्णन प्रक्षिप्त माना जाता है।

महाराज हर्षवर्द्धन ने वायुपुराण की कथा श्रद्धा पूर्वक श्रवण की थी, इस बात का हर्ष के सभा पण्डित वाण ने हर्षचरित और कादम्बरी कथा में 'पुराणेषु वायुः प्रलपितम्' वाक्य द्वारा उल्लेख किया है। हर्षवर्द्धन का राज्य इतिहासकारों ने सन् 606 ई. तक प्रमाणित बताया है। इस प्रकार वाण का कार्यकाल ईसा की छठी शताब्दी का उत्तरार्द्ध सिद्ध होता है। वायु पुराण वाण भट्ट से पूर्व की रचना है। वायु पुराण में मात्र दो ही श्लोकों में राधा का परिचय प्रस्तुत किया गया है। परन्तु ग्राउस महोदय ने इस पुराण का रचयिता गो. रूप-सनातन को बताया है जो ईसा की सोलहवीं शताब्दी में हुए थे। इन दोनों पुराणों में भी राधा का नाम मिलता है।

श्रीमदभागवत महापुराण का रचना काल जर्मन विद्वान विण्टरनिट्ज तथा सी.वी. वैद्य आदि भारतीय विद्वानों ने ईसा की दसवीं शताब्दी, आचार्य आनन्दतीर्थ माध्व ने महाभारतकाली, भण्डारकर ने नवीं शताब्दी और डॉ. प्रभुदयाल मित्तल ने छठी शताब्दी स्वीकार किया है। इस सम्पूर्ण पुराण में गोपी के अर्थ में राधा शब्द या नाम कहीं भी प्रयुक्त नहीं हुआ है। कुछ भक्त जन **'अनयाराधितो नूनं भगवान हरिरीश्वरः'** श्लोक को उद्धृत कर 'अनया' सर्वनाम पद के स्थान पर उस अनामिका गोपी को आराधिका मान कर आङ् उपसर्ग को हटा कर 'राधिका' मानकर राधा शब्द की व्युत्पत्ति करते हैं। परन्तु यह अभिमत स्वीकार्य नहीं है क्योंकि ऐसी व्युत्पत्ति सम्भव नहीं।

हाँ कोई गोपी जिससे श्री कृष्ण विशेष स्नेह करते हैं उनका लीला मैं अपहरण कर कुंज कुटीरों में ले जाती है। वह सभी गोपियों में विशिष्ट और असामान्य है। श्री कृष्ण उसके प्रेम-पाश में बंधे हुए उसका अनुगमन करते हैं। अन्य गोपियाँ श्री कृष्ण को ढूँढ़ने के लिए उनके पद चिह्नों का अनुसरण करती हैं। वह विशेष सुन्दरी राधा है, ऐसा लोग अनुमान लगाते हैं। परन्तु वह सुन्दरी अनामिका है अर्थात श्रीमद् भागवत महापुराण में राधा नाम कहीं प्रयोग नहीं हुआ है। उसी अनामिका को विद्वान लोग राधा के नाम से व्यवहार करते हैं। उनका मत है - 'यतः सा कृष्णमाकृष्य स्वकार्य राध्नोति साधयति वा।' शब्द कल्पद्रुम कोश में भी 'राध्नोति साधयति कार्यणीति राधा' व्युत्पत्ति की गई है। राध+अच्+टाप = राधा यत -

नमो नमस्तेऽस्त्वृषभाय सात्वतां।
विदूर काष्ठाय मुहुः कुयोगिनाम्।।
रिरस्त साम्यातिशयेन राधसा,
स्वधामनि ब्रह्मणि सस्यतेनमः।।[19]

उपर्युक्त श्लोक में 'राधसा' पद राधा पद की व्युत्पत्ति का आधार है, ऐसा उनका विचार है। परन्तु यहाँ तो 'राधसा' पद राधस् शब्द का तृतीय विभक्ति एक वचन पद है अतः इसका प्रयोग 'ऐश्वर्य से' अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। अतः इसे आधार मान कर भी राधा शब्द की व्युत्पत्ति गोपी अर्थ में सम्भव नहीं हो सकती। ईसा की दसवीं शताब्दी में भी राधा का श्रीकृष्ण के साथ आगमन का अनुमान निराधार कल्पना ही है। श्रीकृष्ण की लीलाओं का चित्रण तो दसवीं शताब्दी के अन्त से पहले भी पुराणों एवं इतिहास ग्रन्थों में अनेक स्थानों पर प्राप्त होता है।

गीतगोविन्द के रचयिता जयदेव का उद्भव काल इतिहासकारों ने ईसा की 11वीं और 12वीं शताब्दी का सन्धिकाल माना है। डॉ. प्रभुदयाल मीतल ने जयदेव का जीवन काल त्रयोदश विक्रमाब्द निर्धारित किया है जो ईसा की 12 वीं शताब्दी के समीप ही ठहरता है। श्री मीतल का मत है कि 13 वीं शताब्दी के प्रथम चरण में संस्कृत भाषा के दो कवियों जयदेव और विल्वमंगल का जन्म हुआ। उन दोनों ने ही अपने-

अपने काव्य ग्रन्थों 'गीतगोविन्द' और 'कृष्णकर्णामृत' में राधाकृष्ण के लीला विलास का माधुर्य भक्ति भाव के साथ वर्णन किया है। वे दोनों ही बंगाधिपति लक्ष्मण सेन के आश्रित कवि थे। लक्ष्मण सेन सं. 1225 वि. (ई. सन् 1168) में गद्दी पर बैठे थे। अतः इन दोनों ही काव्यों का रचना काल इसके समीप ही होना चाहिए। वाचस्पति गैरोला भी लक्ष्मण सेन का शासन काल विक्रम की बारहवीं शताब्दी ही स्वीकार करते हैं।

परन्तु इन दोनों कवियों के प्रादुर्भाव से पूर्व ही राधा तत्व जनमानस में समा गया था तथा चरम सीमा पर था। उस समय तक राधा श्रीकृष्ण की प्रियतमा के रूप में प्रसिद्धि प्राप्त कर चुकी थी। राधाकृष्ण भी लोक में सीता-राम, गौरी-शंकर की तरह स्वीकार लिए गये। राधा का इस कालखण्ड में एक सामान्य नायिका की तरह मानिनी-कामिनी आदि नायिका भेदों में वर्णन किया गया है। यहाँ कुछ अंश गीतगोविन्द से उद्धृत हैं -

'राधा पीन पयोधरा स्मरणकृत कुम्भेन संभेदवान।'

'इतस्तस्तामनुसृत्य राधिकामनङ गवाण-व्रणखिन्न मानसः।

कृतानु तापः सकलिन्द नन्दिनी तटान्त कुंजे निससाद माधवः।।'

सामान्य नायिका की तरह शृंगार वर्णन -

'आश्लेषादनु चुम्बनादनुरवोल्लेखादनु स्वान्तजात्।

प्रोद्वोधादनु सम्प्रभादनुरता रम्भादनु प्रीतयोः।।

अन्यार्थङ्गत्तयोर्भ्रमन्मिलितयोः सम्भाषणैर्जनितौ।

कामातुरा दम्पत्योर्निशंकोन तमसि क्रीडा विमिश्रो रसः।।'

राधा का यह सजीव कामुक चित्र द्रष्टव्य है -

'सा रोमांचति सीत्करोति -
विलपत्युत्कम्पते ताम्यति।
ध्यायत्युद्भ्रमति प्रमीलति
पतत्युद्याति मूर्च्छत्यपि।।
एतावत्यतनुज्वरे वरतमु -
ञ्जीवेन्न किं ते रसात्।
स्वरवैद्य प्रतिम प्रसीदसि
परित्यक्त्वोऽन्यथा हस्तकः।।[20]

बारहवीं सदी में निम्बार्क सम्प्रदाय में राधा श्रीकृष्ण की नित्य सहचरी स्वरूपा स्वीकारी गई। निम्बार्क सम्प्रदाय के मतानुसार श्रीकृष्ण मात्र विष्णु के अवतार नहीं अपितु नित्य ब्रह्म ही हैं और राधा उनकी शक्ति स्वरूपा हैं। श्रीकृष्ण ब्रहम हैं तो राधा उनकी माया है। निम्बार्कीय दशश्लोकी स्तोत्र में राधा का महत्व इस प्रकार वार्णित है -

'अङ्गे वामे वृषभानुजामुदा
विराजमानामनुरूप सौभगाम्।
सखी सहस्त्रैः परिसेवितां सदा
स्मरेम देवी सकलेष्ट कामदाम्।।'[21]

परन्तु कुछ विद्वान इस श्लोक को प्रक्षिप्त मानते हैं। राधाकृष्ण का युगल स्वरूप प्रतीक 'सर्वेश्वर' ही निम्बार्क मतानुयायियों के उपास्य या आराध्य देव हैं। यहां राधा और कृष्ण को परस्पर आत्मसात् कर दिया गया है

'यः कृष्णः सापि राधा,
या राधा कृष्ण एव सः।
एक ज्योति द्विधा भिन्नं
राधा माधव रूपकम्।।'[22]

श्रीमद वल्लभाचार्य का प्राकट्य ईसा की चौदहवीं शताब्दी में माना गया है। डॉ. प्रभुदयाल मीतल महाप्रभु का प्राकट्य सं 1535 वि. में मानते हैं तथा सं. 1587 वि. में आपका स्वर्गारोहण निर्णीत है। अतः श्रीमद् वल्लभाचार्य का काल पंद्रहवीं शताब्दी निश्चित है, ऐसा डॉ. मित्तल ने स्वीकार किया है।

पुष्टिमार्गीय भक्ति मार्ग में और शुद्धाद्वैत ठाकुर सेवा में प्रथम तो वात्सल्य भक्ति भाव ही प्रधान था परन्तु जीवन यात्रा के अन्तिम चरण में महाप्रभु

वल्लभाचार्य जी ने पूर्ववर्ती आचार्यों के विचारों से अनुप्रेरित होकर पूजा अर्चना विधि में राधा तत्व को भी आंशिक रूप में स्वीकार कर लिया।

मधुराष्टक और परिदृढाष्टक स्तोत्रों में और रास पंचाध्यायी की सुबोधिनी टीका में आचार्य द्वारा श्रीकृष्ण के माधुर्य मण्डित स्वरूप और माधुर्य भक्तिभाव का उल्लेख किया गया है। महाप्रभु वल्लभाचार्य ने पुष्टिमार्गीय शुद्धाद्वैत दर्शन में पूजा अर्चना उपासना और भक्ति में परब्रह्म श्रीकृष्ण को आराध्य देव के रूप में स्वीकार करके भगवती राधा को भी समुचित मान्यता प्रदान की है। उन्होंने अपने पुरुषोत्तम सहस्रनाम स्तोत्र में रस रूपी कृष्ण माधुर्यमूर्ति राधा के साथ 'राधा विशेष संभोग प्राप्त दोष निवारकः' नाम से सम्बोधित किया गया है। श्रीकृष्ण प्रेमामृतम भी महाप्रभु वल्लभाचार्य विरचित ही है। उसमें भी उन्हें 'राधावल्लभ् रतः', 'राधा सर्वस्व सम्पुटः', 'राधिका रति लम्पटः' आदि सरस विशेषणों का प्रयोग किया है। श्री कृष्णाष्टक स्तोत्र में 'श्री राधिका रमणः', 'राधा प्रिय वरेण्यः' व 'राधिका बल्लभः' इत्यादि विशेषणों से स्मरण किया गया है। इन सब विशेषणों से प्रमाणित होता है कि श्रीमद्वल्लभाचार्य के पुष्टिमार्ग में भी राधा का सम्यक् समावेश हुआ है।

श्रीमद् भागवत महापुराण के 'नमो नमस्ते' श्लोक की सुबोधिनी टीका में आचार्य श्री ने जिस तत्व का प्रतिपादन किया है वह उनके द्वारा राधा तत्व की स्वीकृति को स्पष्ट बताता है। इस टीका में कहा गया है कि भगवान श्री कृष्ण अपनी राधस् शक्ति से युक्त स्वरूपानन्द में स्वयं विहार करते हैं। राधस् शब्द राधा का प्रतीक है। आचार्य श्री के अनुसार राधा श्रीकृष्ण से अभिन्न, उनकी स्वरूपशक्ति और सिद्धिशक्ति स्वीकार की गई है। अन्य गोपियों में प्रमुख होने के कारण उसका 'स्वामिनी' नामोल्लेख भी हुआ है। इसी परिवर्तन से अनुप्रेरित होकर महाप्रभु वल्लभाचार्य के ज्येष्ठ पुत्र गो. विट्ठलनाथ ने 'स्वामिन्यष्टक', 'राधा प्रार्थना' आदि ग्रन्थों की रचना की।

स्कन्दपुराण का रचनाकाल इतिहासकारों ने 1464 ई. माना है। इसमें भी राधा का वर्णन उपलब्ध है। इसप्रकार ईसा की पन्द्रहवीं शताब्दी में राधा तत्व का प्रचार-प्रसार हो गया था। सोलहवीं शताब्दी में तो वल्लभ सम्प्रदाय में मान ही लिया गया परन्तु दसमी शताब्दी के भागवतोत्तर साहित्य में राधा तत्व विमर्श कहाँ हुआ है, यह विचारणीय विषय है।

यों तो इस कालखण्ड में अनेक पुराणों और स्तोत्र ग्रन्थों में राधा का उल्लेख मिलता है। परन्तु पद्मपुराण, वासुदेव रहस्य और नारद पंचरात्र विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। कुछ पुराणवेत्ताओं का मत है कि राधा का भगवान् श्री कृष्ण की प्रियतमा और पत्नी के रूप में प्रथम पदार्पण पद्मपुराण में देखा जाता है। इसके उत्तर खण्ड में श्रीराधा जन्माष्टमी व्रतकथा माहात्म्य में उसकी जन्मतिथि, ध्यान आदि का निरूपण हुआ है, सदाशिव-नारद-संवाद में 128 नाम, वासुदेव रहस्य के छठेपटल में तन्त्रमत में राधा की उत्पत्ति आदि का विवरण, आठवें पटल में ब्रज जाकर पद्मिनी ने क्या किया, बाईसवें पटल में राधा सहस्रनाम तथा स्तोत्र आदि प्रकरणों का विस्तारपूर्वक विवेचन है। राधा के जन्म के विषय में पद्मपुराण का मत है-

भाद्रस्य कृष्णपक्षे तु हरिजन्माष्टमी यदा।
तस्याः परे तु शुक्ला तस्यां जाता हरिप्रिया।।[23]

नारद-पंचरात्र में राधिका सहस्रनाम, राधा कवच और राधिका स्तोत्र सम्मिलित हैं।

इन सब पुराणों स्तोत्रों और इतिहास ग्रन्थों में बह्मवैवर्त पुराण प्रमुखतम है जिसमें राधा के विषय में सम्पूर्ण विवरण उपलब्ध है। अतः यहाँ ब्रह्मवैवर्त पुराण के अनुसार राधा की उत्पत्ति और महिमा का वर्णन किया जा रहा है।

ब्रह्मवैवर्त पुराण के प्रकृतिखण्ड के दूसरे अध्याय 'राधोपाख्यान' के 45 वें अध्याय में, श्रीकृष्ण जन्म

खण्ड के 13वें, 17वें, 52वें, 97वें और 110वें अध्यायों में विशद रूप से वर्णित कथ्य यहाँ सार रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है -

श्रीकृष्ण वामभागांशा शक्ति - ब्रह्मवैवर्त पुराण में राधा को श्रीकृष्ण की वामभागांशा शक्ति के रूप में चित्रित किया गया है। सृष्टि के इच्छुक परब्रह्मस्वरूप श्रीकृष्ण स्वेच्छा से दो भागों में विभक्त हो गये। उन दोनों भागों में से वामभाग स्त्री रूप तथा दायां भाग नर रूप में परिणित हो गया। उस सुन्दर कामिनी को देखकर श्रीकृष्ण आकर्षित हुए तथा उसके साथ में एकान्त में क्रीड़ा करने लगे। बहुत देर तक सुखपूर्वक सुरत क्रीड़ा की। सुरत क्रीड़ा से थकी हुई नारी के शरीर से श्रमजल बहने लगा तथा लम्बी-लम्बी साँसें चलने लगी। उसी श्रमजल से विश्वगोलक उत्पन्न हुआ और निःश्वास से पंच वायु पैदा हुई। यथा -

बभूवमूर्तिर्महद्वायोर्वामाङ कात्प्राणवल्लभा।
तत्पत्नी सा च तत्पुत्राः प्राणांच पंच जीविनाम्।[24]

उस कृष्ण-शक्ति ने कृष्ण के गर्भ को धारण किया और कोप से ब्रह्ममाण्ड में गोलक में जल उत्पन्न किया। इस व्यवहार से श्रीकृष्ण ने उस देवी को शाप दिया -

यतोऽपत्यं त्वयं व्यक्तं कोपशीले सुनिष्ठुरे।
भव त्वमनपत्यापि चाद्यप्रभृति निश्चितम्।[25]

अतः यह राधा श्रीकृष्ण की अनन्य, अपरिहार्य अभिन्न शक्ति है। इन दोनों में कोई भेद नहीं है, क्योंकि-

कृष्ण प्राणाधिदेवी सा, कृष्ण प्राणाधिक प्रिया।
कृष्णस्य संङ्गिनी शाश्वत, कृष्ण वक्षः स्थल स्थिता।।

अतः

राधा माधवयोर्भेदं, ये कुर्वन्ति नराधमाः।
वंशहानिर्भवेत्तस्य, पच्यन्ते नरकं चिरम्।[26]

तत्पश्चात निःसन्तान के शाप वाली उस देवी की जिह्वा के अग्रभाग से अचानक एक शुभवर्णा, मनोहरा, पीले वस्त्र धारण की हुई, वीणा-पुस्तक धारिणी, रत्नाभूषण-भूषिता तथा सभी शास्त्रों की अधिकृत देवी पैदा हुई। वह पैदा होते ही दो भागों में प्रस्तुत हो गई - कमला और सरस्वती स्वरूपा। राधा के अंग से पैदा होने के कारण ये दोनों भी अनपत्यता को प्राप्त हुई।

राधा की उत्पत्ति - पहले गोलोक (रम्य वृन्दावन) में दो रूपों (पुरुष एवं स्त्री) में विभक्त श्रीकृष्ण रमण के लिए उत्सुक हुए। यह स्त्री भी उन्हें देखकर रमणोत्सुक हो गई। उसने रासेश को धारण किया। अतः राधा के नाम से विख्यात हुई यथा-

रासेशं भूयः गोलोकं सादधार हरेःपुरः।
तेन राधा समाख्याता पुराविद्भिर्महेश्वरि।।[27]

नारायण भी दो भागों में विभक्त हुए - दो भुजावाले और चार भुजावाले हो गये। इस प्रकार स्वयं राधा उसी परमात्मा की पत्नी उसी के हृदय में स्थित और प्राणों की अधिष्ठात्री देवी होकर लोक में निवास करती हुई लक्ष्मी के रूप में घर-घर में निवास करती है।

एक दिन गोलोक में श्रीदामा का राधा के साथ झगड़ा हो गया। श्रीदामा उसके शाप से दैत्य हो गया तथा राधा श्रीदामा के शाप से गोपी होकर गोकुल में कलावती-वृषभानु की पुत्री के रूप में जन्मी

श्रीधाम्नो राधया सार्द्ध बभूव कलहो महान्।
श्रीदामा शापादैत्यश्च गोपीराधा च गोकुले।।
वृषभान सुता सा च माता यस्याः कलावती।
कृष्णस्याद्रर्धाङ्ग सम्भूता नाथस्य सदृशी सती।।
गोलोकवासिनी सेयमत्र कृष्णाज्ञयाधुना।
अयोनि सम्भवा देवी मूल प्रकृतिरीश्वरी।।[28]

राधाशब्द की व्युत्पत्ति एवं महिमा मण्डन - शब्दकल्पद्रुम में राधा शब्द की व्युत्पत्ति 'राध्नोति साधयति कार्याणीति' की है। परन्तु ब्रह्मवैवर्त पुराण में राधा शब्द की व्युत्पत्ति और निरुक्ति अनेक प्रकार से की गई है। जैसे-रासेशं धारयति इति राधा व्युत्पत्ति के बहाने राधा। की महिमा भी प्रतिष्ठापित की गई है -

'रा' इत्यादान वचनो 'धा' च निर्वाण वाचकः।
यतो वाप्नोति मुक्तिंच सा च राधा प्रकीर्तिता।।
रेफो हि कोटिजन्माघं कर्मभोगं शुभाशुभम्।
आकारो गर्भवासं च मृत्युं च रोगमुत्सृजेत्।।
धकारमायुषो हानिमाकारो भव-बन्धनम्।[29]

इस प्रकार 'रा' और 'धा' वर्णों से अनेक अर्थों को ग्रहण कर राधा एवं उसके नाम पर्यायों की व्युत्पत्ति एवं निर्वचन किया गया है तथा महिमा भी प्रतिष्ठापित की गई है। इसमें राधा के 16 नामों का भी उल्लेख मिलता है।

रूप सौन्दर्य निरूपण - पुराण के अनुसार श्रीकृष्ण से पैदा होने के कारण यह सुन्दरी, रम्या, रमणीया, अतीव श्रोणिभारार्त्ता, नवयौवन संवृता, कामातुरा, सस्मिता, अतीव कमनीया, चारु- चम्पक सन्निभा, पीनपयोधरा, मानिनी, चन्द्रकान्ता, शरच्चन्द्र निभानना, कान्ता, लोक कल्याण कारिणी, मुक्तिका, परमानन्द राशि, विविध दोष विनाशिका, निर्वाणधात्री, शान्ता, जगन्माता प्रकृति स्वरूपा आदि विशेषणों से सम्पन्न बताई गई है।

इस पुराण के 97वें अध्याय में त्रिविध निमित्त, 110वें अध्याय में राधा का स्वरूप निरूपण, 123वें अध्याय में राधा और पार्वती तथा राधा और माधव का अभेद, चौथे अध्याय में गोलक में उसका आश्रम वर्णित है।

मध्यकालीन भक्ति साहित्य में प्रमुखतः गर्ग संहिता में और ब्रह्मवैवर्त पुराण में राधाकृष्ण युगल का अलौकिक प्रणय तथा उन दोनों का रहस्यमय विवाह वर्णित है। मध्व सम्प्रदाय में राधा-माधव-प्रणय ही प्रतिष्ठा को प्राप्त हुआ। इस सम्प्रदाय के संस्थापक आचार्य माधवेन्द्रपुरी (सं. 1453 वि) हुए। उनके शिष्य ईश्वरपुरी तथा उनके पश्चात महाप्रभु चैतन्य पुरी हुए जिनके नाम पर यह सम्प्रदाय 'चैतन्य सम्प्रदाय' के नाम से विख्यात हुआ।

कुछ पुराविदों के मतानुसार 'राधा' नाम पहले से ही लोक में प्रचलित था। महाराष्ट्रीय प्राकृत भाषा में सातवाहन हाल द्वारा विरचित गाथा सप्तशती इसका प्रमाण है। हाल का समय सत्तरहवीं शताब्दी से 21वीं शताब्दी निश्चित है। डॉ. हजारा का अभिमत है। यद्यपि ब्रह्मवैवर्त पुराण की रचना सन् 700 ई. में सम्पन्न हुई परन्तु उसका वर्तमान रूप सोलहवीं सदी में ही प्राप्त हुआ। यदि यह पुराण 700 ई. का लिखा होता तो श्रीमद् भागवत महापुराण में भी राधा का नामोल्लेख अवश्य होता क्योंकि वर्तमान महाभारत ग्रन्थ का काल छठी शताब्दी से पूर्व का नहीं है तथा इस पुराण को सम्पन्न होने में भी समय लगा होगा। अतः समकालीन सिद्ध होते हैं। परन्तु ऐसा नहीं है।

अतः ब्रह्मवैवर्त पुराण में यह कथा प्रक्षिप्त होनी चाहिए, ऐसा विद्वानों का अनुमान है। यह परवर्ती परिवर्द्धन परिशोधन ज्ञात होता है। वाचस्पति गैरोला का मत है कि इस पुराण की रचना किसी कवि ने सोलहवीं शताब्दी में सम्पन्न की होगी। उसके ऊपर गीत गोविन्द का प्रभाव भी लक्षित होता है। भागवत पुराण का अन्तिम संस्करण भी दसवीं सदी में सम्पन्न हुआ था।

पुराणों के रचना-निर्धारण के विषय में लोकमान्य बालगंगाधर तिलक का अभिमत भी यहाँ उल्लेखनीय है। गीता रहस्य में उन्होंने लिखा है -[30] 'पुराण रचना का काल कैसे भी ईसा की दूसरी शताब्दी के बाद का संभव नहीं है।' डॉ. जायसवाल का मत है कि राजस्थान कांचनक के राज्य के अन्तिम शासक पुष्पमित्र का काल 499 ई. है जो पुराण रचनाकाल की समाप्ति का समय था। उनमें संशोधन, परिशोधन सतत् चलता रहा, सम्भवतः परिवर्धन भी कर दिया हो। अतः यह काल पंचम शताब्दी के बाद हो सकता है।

सन्दर्भ

1. बिहारी सतराई-5। **2.** बिहारी सतसई-1। **3.** अज्ञात। **4.** ऋग्वेद 1.30.5। **5.** सायण भाष्य। **6.** ब्रहम वैवर्त पुराण-श्रीकृष्णजन्म खण्ड में अध्याय-13 राधा शब्दस्य व्युत्पत्तिः सामवेदे निरूपिता। नारायण-

स्तागुवाच, ब्रह्माणं नाभि पंङ्कजे।। **7.** सामवेद-पूर्वार्षिक 1.4.6., उत्तरार्चिक 20.2.1। **8.** वही पूर्वा 1.4.7। **9.** वही पूर्वा 2.6.1 उत्त. 2.3.1। **10.** वही पूर्वा 2.10.5। **11.** वही पूर्वा 2.12.10। **12.** वही पूर्वा 3.23.3। **13.** वही पूर्वा 3.23.4। **14.** वही पूर्वा 4.28.6। **15.** वही उत्त. 19.1.14। **16.** वही उत्त. 20.2.1। **17.** महाभारत 1.67.1 38 139। **18.** देवी भागवत 2.6.38। **19.** महाभारत 2.4.14। **20.** जयदेव-गीतगोविन्द। **21.** निम्बार्काचार्य दशश्लोकी। **22.** वही। **23.** पद्मपुराण-उत्तरखण्ड-राधा जन्माष्टमी व्रत कथा। **24.** ब्रह्मवैवर्त पुराण-प्रकृतिखण्ड अध्याय 2। **25.** वही। **26.** ब्रह्मवैवर्त पुराण श्रीकृष्ण जन्म खण्ड में अध्याय-123। **27.** ब्रह्मवैवर्त पुराण प्रकृति खण्ड का राघोपाख्यान अध्याय-45। **28.** ब्रह्मवैवर्त पुराण श्रीकृष्ण जन्म खण्ड अध्याय-13। **29.** ब्रह्मवैवर्त पुराण श्री प्रकृति खण्ड राघोपाख्यान अ.-45। **30.** गीता रहस्य भूमिका-लोकमान्य बालगंगाधर तिलक।

मेवाराम कटारा 'पंक'
36 जसवंत नगर, प्रदर्शनी मार्ग
भरतपुर - 321001(राज.)

करत करत अभ्यास के

बालक वरदराज का नाम तो कुछ और था परंतु मन्दबुद्धि होने के कारण इनके सहपाठी इन्हें बरधराज (बैलों का राजा) कहा करते थे। इनकी स्मरण शक्ति इतनी दुर्बल थी कि जितने दिनों में एक घड़ा भर सत्तू खाकर ये समाप्त कर पाते थे, उतने दिनों में केवल एक सूत्र इनको कण्ठस्थ होता था। जब ये पांच वर्ष के थे, तभी पढ़ने के लिए गुरुजी के पास गये थे। दस वर्ष बीत जाने पर भी जब ये मूर्ख ही बने रहे, तब अन्त में एक दिन गुरुजी ने निराश होकर कहा कि बेटा वरदराज! मैंने पूरा प्रयत्न कर लिया। परंतु तुम्हारे भाग्य में विद्या नहीं जान पड़ती। तुम पढ़ाई छोड़कर घर जाओ और कोई दूसरा काम करो।

ब्राह्मण के बालक को विद्या नहीं आयेगी, यह बात उन दिनों साधारण नहीं थी। यह तो ब्राह्मणत्व से गिर जाने जैसी बात थी। गुरुदेव की बात से वरदराज को इतना दुःख हुआ कि उन्होंने विद्याहीन जीवन से मर जाना श्रेष्ठ समझा। कुएँ में कूदकर प्राण त्याग करने के विचार से वे एक कुएँ के पास गये। उन्होंने देखा कि कुँए के ऊपर का जो पत्थर है, उस पर जल खींचने की रस्सी की रगड़ के चिन्ह बन गये हैं। वरदराज ने सोचा जब इतने कठोर पत्थर पर कोमल रस्सी की बार-बार रगड़ से चिह्न बन जाता है, तब परिश्रम करने से क्या मुझे विद्या नहीं आयेगी? वे आत्महत्या करने का विचार छोड़कर गुरुदेव के पास लौट आये और कुछ दिन और अपने पास रखकर शिक्षा देने के लिए गुरुदेव से प्रार्थना की।

वरदराज अब मन लगाकर पढ़ना प्रारम्भ किया। उनकी लगन इतनी तीव्र थी कि अपने शरीर तक का भी उन्हें ध्यान नहीं रहा। सायंकाल जब भोजन करने बैठे, तब भोजन करते समय भी उनकी दृष्टि व्याकरण के पन्ने पर ही थी और वे उसी को स्मरण करने का प्रयत्न कर रहे थे। उनका हाथ थाली के बदले पास पड़ी राख पर पड़ गया और उसी राख को भोजन समझकर वे उठा-उठाकर खाने लगे। पढ़ने में उनका इतना ध्यान था कि मुख में भोजन जा रहा है या भस्म, इसका उन्हें कुछ पता ही नहीं लगा।

वरदराज की पढ़ने में इतनी एकाग्रता देखकर विद्या की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती प्रसन्न हो गयीं। उन्होंने प्रकट होकर दर्शन दिया। उनके आशीर्वाद से वरदराज व्याकरण तथा सभी शास्त्रों के महान विद्वान हो गये। पाणिनीय व्याकरण पढ़ने में बहुत श्रम होता है, वरदराज को इसका अनुभव था। उन्होंने आरम्भ में विद्यार्थियों को व्याकरण पढ़ने में सरलता हो, इस विचार से 'लघुसिद्धान्तकौमुदी' की रचना की। पाणिनीय व्याकरण का संक्षिप्त सारांश इस ग्रन्थ में है। वरदराज की घटना से संस्कृत में एक लोकोक्ति प्रचलित हो गयी, जिसकी हिन्दी में भी पद्य के रूप में बहुत प्रसिद्धि है। जीवन में उन्नति चाहने वाले प्रत्येक व्यक्ति के लिए यह लोकोक्ति स्मरण रखने योग्य है जिसे रहीम ने इस प्रकार कहा -

करत करत अभ्यास के जड़मति होत सुजान। रसरी आवत जात ते सिलपर परत निसान।।

डॉ. कृष्णा आचार्य
उस्तों की बारी के अन्दर झंझार जी की चौकी वाली गली
बीकानेर (राज) 334005 मो. 8619402147

सत्य के अन्वेषी जे. कृष्णमूर्ति

डॉ. परशुराम शुक्ल विरही

भारत में बड़े-बड़े महापुरुष हुए जिनकी महानता के आगे दुनिया मस्तक झुकाती है। इस युग के महापुरुषों की गिनती में जिद्दू कृष्णमूर्ति का नाम बड़े आदर के साथ लिया जाता है। सच्चा संत ही सच्चा त्यागी और कथनी-करनी की एकता करने वाला होता है। ऐसे संत समाज को नया मार्ग दिखाते हैं। शिक्षण की संस्थाओं में तो कुछ बातों की ही शिक्षा दी जाती है, किन्तु सन्तों के द्वारा ऐसी शिक्षा मिलती है जिसे ग्रहण करने के बाद कुछ जानना शेष नहीं रहता है और सच्चा सुख मिलता है। जिद्दू कृष्णमूर्ति दुनियाभर में सत्य का स्वरूप समझाते रहे। उन्हें बड़े-बड़े साधक, नेता, लेखक, आचार्य, कलाकार, अधिकारी, समाज सेवक, सेनापति, वैज्ञानिक अपना गुरु मानते रहे, किन्तु कृष्णमूर्ति ने कभी अपने नाम के आगे गुरु, भगवान, आचार्य, अवतार आदि विशेषण नहीं लगाए और न वे चाहते थे कि कोई इस प्रकार के विशेषण उनके नाम के आगे लगाकर कुछ कहे या लिखे।

तमिलनाडु में एक गाँव है जिद्दू। उस गाँव में प्रधानतः ब्राह्मण रहते हैं। नारायनिया नाम के जिद्दू ग्रामवासी की आठवीं सन्तान के रूप में एक पुत्र का जन्म हुआ। भगवान कृष्ण ने देवकी-वसुदेव की आठवीं संतान के रूप में जन्म लिया था। नारायनिया ने इस आधार पर अपनी आठवीं संतान का नाम रखा कृष्णमूर्ति। सन् 1895 के मई महीने की 12 तारीख को कृष्णमूर्ति का जन्म हुआ था। तमिलनाडु में नाम से पहले उस स्थान या गांव का नाम लिखा जाता है जहाँ किसी व्यक्ति का जन्म होता है। इसीलिए कृष्णमूर्ति के पहले जिद्दू लिखा जाता है। भारत के राष्ट्रपति रहे सर्वपल्ली राधाकृष्णन का मूल नाम राधाकृष्णन है, सर्वपल्ली उनके जन्म स्थान का नाम है। कृष्णमूर्ति के पिता मामूली नौकरी करते थे, माता संजीव अम्मा घर संभालती थीं। अशिक्षित होते हुए भी कृष्णमूर्ति की माँ को आत्मिक ज्ञान था और वे लोगों के चेहरों के आभा मण्डल के रंग पहचान लेती थीं।

विद्यालय में कृष्णमूर्ति का मन नहीं लगता था। वे घंटों तक एकांत में बैठे रहते थे। इकहरे शरीर के दुर्बल कृष्णमूर्ति जब दस वर्ष के हुए तब उनकी माता का देहांत हो गया। नारायनिया के अनेक बच्चे थे। उन्हें सम्भालने के लिए नारायनिया की बहिन आ गई। सरकारी सेवा से निवृत्त होने पर नारायनिया ने अडयार के ब्रह्म विद्या संघ (थियोसॉफिकल सोसायटी) के कार्यालय में नौकरी कर ली। कृष्णमूर्ति और छोटा भाई नित्यानंद अक्सर पिता के साथ

थियोसॉफिकल सोसायटी के परिसर में जाया करते थे। नित्यानंद पढ़ाई में कृष्णमूर्ति से होशियार था।

ब्रह्म विद्या संघ के नेता लीड बीटर ने दोनों भाइयों को कई दिनों तक बहुत ध्यान से देखा। वे आध्यात्मिक क्षेत्र के अनेक विषयों व मनोविज्ञान के और प्रेत-विद्या के परम ज्ञाता थे। उन्होंने कृष्णमूर्ति के चेहरे के आभामण्डल में कुछ अनोखी किरणें देख कर ब्रह्म विद्या संघ की सर्वेसर्वा एनी वीसेन्ट से कहा- 'यह बालक एक बहुत अच्छा वक्ता बनेगा, बहुत बड़ा गुरु बनेगा और संसार को एक नई राह दिखाएगा।' एनी वीसेन्ट ने जब कृष्णमूर्ति को देखा तो उन्हें ऐसा लगा कि यह बालक भविष्य का मसीहा बनेगा।

एनी वीसेन्ट ने नारायनिया से कृष्णमूर्ति और नित्यानंद को माँग लिया, क्योंकि कृष्णमूर्ति छोटे भाई के बिना रह नहीं सकते थे। नारायनिया की बहुत सन्तानें थी, उनका पालन-पोषण वह बहुत कठिनाई से कर पाता था। संतानों में से दो की कमी से उसे कुछ राहत मिलेगी यह सोचकर उसने एनी वीसेन्ट की मांग मान ली और कृष्णमूर्ति तथा नित्यानन्द को उन्हें दे दिया। दोनों बालक आश्रम में रहने लगे। प्रारम्भिक शिक्षा के बाद एनी वीसेन्ट उन्हें बनारस लिवा गई। वहाँ की पढ़ाई के बाद उन्हें इटली और इंगलैण्ड में पढ़ने के लिए भेजा गया।

थियोसॉफिस्ट एनी वीसेन्ट भारत के स्वाधीनता आन्दोलन की एक नेता भी थी। जगह-जगह अपने भाषणों में उन्होंने कहा कि बुद्ध भगवान का मैत्रेयी अवतार हो गया है और जगत के मार्गदर्शन के लिए सच्चा गुरु आ गया है। कृष्णमूर्ति जहाँ-जहाँ गए वहाँ-वहाँ उनकी सुन्दरता और तेज से लोग उनकी ओर आकर्षित होते थे। इंगलैण्ड में प्रसिद्ध साहित्यकार जार्ज बर्नार्डशा ने उनकी बड़ी प्रशांसा की थी।

इंगलैण्ड और इटली के विश्वविद्यालयों में उन्हें प्रवेश नहीं दिया गया और यह कहा गया कि 'इस मसीहा से हमें क्या काम' तब कृष्णमूर्ति और उनके भाई को फ्रांस भेजा गया। पेरिस के विश्वविद्यालय में उनका प्रवेश हो गया। पेरिस के अध्ययन काल में वे वहाँ के साहित्यकारों, कलाकारों और नृत्यकारों से मिलते रहे। पेरिस में उनके अनेक मित्र बन गए। इस बात का भी खूब प्रचार हुआ कि कृष्णमूर्ति भावी मसीहा हैं। पेरिस में उनके सम्मान में एक बहुत बड़ी दावत हुई, जिसमें झकाझक वर्दी धारण किए सेनाधिकारी, अखबार वाले पत्रकार, लेखक, नेता और कलाकार एकत्रित हुए। कुछ लोगों ने उनकी प्रशांसा में कसीदे पढ़े तो कुछ लोग ऐसे भी थे जिन लोगों ने मजाक उड़ाया।

पेरिस से भारत आने पर कृष्णमूर्ति के सम्मान में बहुत बड़ा जुलूस निकाला गया बनारस में, उसके बाद वे अडयार और मद्रास गए। दोनों जगह बहुत बड़े स्तर पर स्वागत किया गया। उसके बाद ये कृष्णमूर्ति सिडनी गए। वहाँ कुछ दिन रह कर अमेरिका गए। अमेरिका के ओजाइ स्थान में उनके लिए एक आश्रम बनाया गया, जिसमें कृष्णमूर्ति, नित्यानन्द और उनके अनेक साथी रहने लगे। ओजाइ में कृष्णमूर्ति ने कठिन साधना की और उन्हें सिद्धि प्राप्त हुई। आश्रम से जब वे वनांचल में जाते थे तो जंगली जानवर देख खड़े हो जाते थे और उन्हें निहारते थे।

अडयार में ब्रह्म विद्या संघ नेताओं ने एक आध्यात्मिक विश्वविद्यालय, एक विश्व धर्म और एक विश्व गुरु बनाने की योजना बनाई। कृष्णमूर्ति को उसका सर्वेसर्वा और विश्व गुरु तय किया गया। बनारस, अडयार, मद्रास और विदेशों में जाकर कृष्णमूर्ति प्रवचन देते रहे। उनका बड़ा नाम हो गया उनकी किताबें प्रकाशित हुई और उनके बारे में भी पुस्तकें निकाली गई। दानी लोगों ने खूब दान दिया स्थान-स्थान पर भवन, धन-राशि और बहुमूल्य वस्तुयें दान में दी गई। इस प्रकार करोड़ों की जायदाद उनके नाम हो गई। विश्व के ब्रह्म विद्या संघ के नायक वर्ग (ऑर्डर ऑफ स्टार) के अध्यक्ष कृष्णमूर्ति बनाए गए। एक दिन एनी वीसेन्ट ने उनसे कहा कि तुम ब्रह्म विद्या संघ के अध्यक्ष भी बन जाओ। शीघ्र ही हम

तुम्हारे चरणों में बैठेंगे। इसके लिए कृष्णमूर्ति ने उन्हें रोक दिया। कुछ समय के पश्चात् ओमान में विश्व के नायक वर्ग (आर्डर ऑफ स्टार) का अधिवेशन हुआ। उसमें हजारों लोग शामिल हुए। एनी वीसेन्ट भी उसमें थी। अधिवेशन के अध्यक्ष थे कृष्णमूर्ति। उनके वक्तव्य से दुनियाभर में तहलका मच गया और ब्रह्म विद्या संघ की योजना धरी रह गई।

कृष्णमूर्ति ने अपने भाषण में कहा - **'सत्य ही धरती पर कोई मार्ग नहीं होता जो निश्चित हो। किसी मार्ग से सत्य के पास नहीं पहुँचा जा सकता। कोई भी धर्म, कोई भी पंथ और कोई भी गुरु सत्य के दर्शन नहीं करा सकता। सत्य की कोई सीमा नहीं होती, उसे किसी सीमा में बाँधा नहीं जा सकता। सत्य के बारे में संगठन बना कर उसमें शामिल होने के लिए लोगों पर जोर नहीं डालना चाहिए, क्योंकि सत्य का संगठन हो ही नहीं सकता। यदि कोई ऐसा संगठन बनाता है तो उसमें सत्य विलुप्त हो जायेगा। विश्वास आदमी का व्यक्तिगत मामला है। मैं नहीं चाहता कि मैं किसी संगठन में रहूँ, क्योंकि कोई संगठन लोगों को आध्यात्मिक नहीं बना सकता। वह लोगों को पराश्रित बना देता है और पूर्ण सत्य की असीमता की तलाश करने से उसे वंचित कर देता है, एक तरह से रोकता है।**

अपनी इन्हीं बातों में विश्वास करते हुए मैं नायक वर्ग के मुखिया की हैसियत से घोषणा करता हूँ कि यह संगठन बन्द किया जाता है और में संगठन से अलग होता हूँ। आज से किसी संगठन से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं रहा। अब मैं किसी का गुरु नहीं और कोई मेरा शिष्य नहीं, इस घोषणा से मैं कोई बड़ा काम नहीं कर रहा हूँ। मैं नहीं चाहता कि कोई मेरा चेला बने। शिष्य या चेला पिछलग्गू हो जाता है। जिस क्षण तुम किसी के पीछे लगे उसी क्षण से सत्य से दूर हो गए समझो।

मेरी एक ही अभिलाषा है, एक ही चिन्ता है कि आदमी स्वतंत्र हो जावे। मेरी बात समझने वालों से मैं चाहता हूँ कि वे मेरे पीछे न लगें और मेरे नाम कोई गुट न बनावें। इसी तरह धर्म और पंथ बन जाते हैं। आदमी को चाहिए कि वह तरह-तरह के भय समझे। धर्म का भय, मोक्ष का भय, आध्यात्मिक भय, प्रेम का भय, मृत्यु-भय, जीवन का भय और ऐसे अनेक भय हैं जिनसे आदमी को अपने आप को आजाद करना चाहिए।

तुम्हें अधिकारी के पीछे चलने की आदत हो गई है। आध्यात्मिक अधिकारी के पीछे चल कर तुम्हें आध्यात्मिकता का मार्ग मिल जायेगा, ऐसा तुम्हारा सोच उसका पिछलग्गू बना देता है। तुम सोचते हो कि किसी चमत्कार से आध्यत्मिकता का वह अधिकारी तुम्हें परमानन्द की अवस्था में पहुँचा देगा। जिन्दगी के बारे में तुम्हारा सोच ऐसा है। तुम अपनी शक्ति को पहचानो और सनातन जिन्दगी में जीना सीखो। यही बात सबसे बड़ी बात है। इसके सामने कोई आनन्द, कोई बलिदान नहीं टिक सकता, इसलिए अपने भीतर जो बैठा है उसे जानो।

कृष्णमूर्ति ने उस सभा में अपने मन की बातें कही और संगठन को सारहीन मानकर दानियों ने जो-जो दान में दिया था वह सब लौटा दिया। करोड़ों की सम्पत्ति वापिस कर दी। राजा से रंक हो गए। ऐसे रंक जिस पर बड़े-बड़े राव निछावर हो जायें। सन् 1930 में थियोसॉफिकल सोसायटी से त्यागपत्र देते समय कृष्णमूर्ति ने कहा- **'मेरी शिक्षा न तो गूढ़ विद्या है और न रहस्यविद्या। ये दोनों मनुष्य की खोज वृत्ति को सीमित कर देती है।'**

पहले जब कृष्णमूर्ति कहीं जाते थे जो उनके साथ बड़ा लवाजमा चलता था। जब वे निपट अकेले जाने लगे। जहाँ जाते थे वहाँ किसी परिचित के घर ठहर जाते थे और सत्संग करते थे। फिर आगे बढ़ जाते थे। इसी प्रकार वे जिन्दगी भर सारी दुनिया में घूमते रहे।

वे भारत में अवश्य आते थे। जब वे आते थे तो उनसे बहुत लोग मिलते थे जिनमें राव साहब पटवर्धन, अच्युत पटवर्धन, सर चुन्नीलाल मेहता, दादा धर्माधिकारी, शंकर रावदेव, जवाहरलाल नेहरू, पुपुल जयकर, नन्दिनी, सुनन्दा, इंदिरा गाँधी, विमला ठकार, डॉ. बालासुन्दरम, अरुण शौरी आदि उनसे मिलने के उतावले रहते थे और उनके भारत दौरे की प्रतीक्षा करते थे।

एक बार जब कृष्णमूर्ति बनारस में थे तो वहाँ प्रतिदिन सत्संग होता था। सत्संग के स्थान के पड़ोस में सर्व सेवा संघ के कार्यालय में विमला ठकार रहती थीं। एक दिन कृष्णमूर्ति से विमला ठकार ने कहा कि योग साधना से हो या किसी अन्य कारण से हो, उनके कान में झनझनाहट होती रहती है और जिस कान में झनझन होती है उससे कम सुनाई देता है। कृष्णमूर्ति ने उन्हें अपने पास बुलाया और अपना हाथ उनके कान पर रख दिया। कुछ देर तक वे कान पर हाथ रखे रहे। फिर हाथ हटा लिया। ऐसा तीन-चार दिन किया और विमला ठकार का कान ठीक हो गया। जब वे कृष्णमूर्ति के पीछे पड़ गई और यह पूछने लगीं कि यह कैसे हुआ यह बतायें। उन्हें समझाया कि इसमें चमत्कार की कोई बात नहीं है। सद्‌भावना के कारण ऐसा हुआ है। किन्तु इस उत्तर से विमला ठकार संतुष्ट नहीं हुई और वे बनारस, बम्बई और अमेरिका तक उनके साथ रह के उपचार की विधि जानना चाहती थी जिससे वे दूसरों को लाभ पहुँचा सकें। कृष्णमूर्ति ने बारबार यही समझाया की सद्‌भावाना ही उपचार है।

परम्परागत और बँधी हुई विचार पद्धति को कृष्णमूर्ति ने नहीं माना और पारस्परिक विचारात्मक बातचीत में जो निष्कर्ष निकलता था उसे वे मान्यता देते थे। वे पुस्तक ज्ञान को सारहीन मानते थे। अपने अनुभव और सोच से जो ज्ञान मिलता है वही कामयाब होता है। कृष्णमूर्ति के विचार मोतियों की तरह बिखरे हैं। उन्हें किसी परम्परित पद्धति या किसी बाद के सूत्र में पिरोया नहीं जा सकता। एक बार सुप्रसिद्ध समाज सेविका और लेखिका पुपुल जयकर ने कृष्णमूर्ति से पूछा- आपकी शिक्षा का सार क्या है? उन्होंने उत्तर दिया- "शिक्षा किस बात की और किसको? न कोई शिक्षक है, न कोई शिष्य है। सब बैठकर विचार करते हैं, अपना-अपना सोच बताते हैं। तो शिक्षा किसकी हुई? सबकी हुई और सबने दी।"

कृष्णमूर्ति ने अपनी अनगिनत बातों में जो विचार दिए उनमें से कुछ विशिष्ट विचार इस प्रकार हैं- **"शब्द की बड़ी महिमा है। शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। उसी के द्वारा हमारा नाता जगत से जुड़ता है। किन्तु जब हम वृक्ष या पेड़ कहते हैं तो वह एक शब्द है पेड़ नहीं है। शब्द से वस्तु या पदार्थ की सत्ता अलग है। जाने कितनी पीढ़ियों से गुजरता हुआ शब्द हमारे पास आता है। जाने कितने लोगों ने शब्द के प्रयोग में कितनी बातें जोड़-घटा दी, यह हम नहीं जानते। इसीलिए शब्द के माध्यम से जगत के जीवन का और वस्तुओं का जो ज्ञान मिलता है वह पूर्ण नहीं, खण्डित होता है। शब्द खतरनाक होते हैं, क्योंकि वे प्रतीक हैं और प्रतीक वास्तविक नहीं होते। वे एक अर्थ, एक धारणा संप्रेषित करते हैं। जो जानना है उसे अनुभव से जानो, उसके साथ एकता स्थापित कर सम्पूर्ण को जानो। सत्य सम्पूर्ण में होता है खण्ड में नहीं।**

संसार में क्लेश है, दुख है, अनेक समस्यायें हैं। ये सब इस कारण हैं कि हम वस्तुओं को और जीवन की समस्याओं को खण्ड-खण्ड करके देखते हैं। जो खण्ड हमारी दृष्टि में आता है उसी को सब कुछ मान लेते हैं और उसके आधार पर सत्य की सम्पूर्णता का विवेचन करने लगते हैं और अपना निर्णय देने लगते हैं। खण्ड के द्वारा सम्पूर्ण का मूल्यांकन नहीं हो सकता। जगत-जीवन की समस्याओं और शंकाओं को सम्पूर्णता के प्रकाश में देखना चाहिए। जो सम्पूर्ण है वही पूरा सत्य है, हर व्यक्ति का मन सम्पूर्ण मानवता का मन है, इसलिए हर व्यक्ति की समस्या सबकी

समस्या है। उसका हल सम्पूर्ण मानवता में समग्र जीवन की अखण्ड अनुभूति में मिलेगा।"

कृष्णमूर्ति जहाँ भी जाते थे, वहाँ उनके प्रवचन के लिए जो स्थान निश्चित किया जाता था, उस पर वे निश्चित समय पर पहुँच जाते थे और बोलना शुरू कर देते थे। फूलमाला से उनका स्वागत, स्वागत भाषण, परिचय आदि औपचारिकताओं के वे घोर विरोधी थे। अपने प्रवचन के पश्चात् वे श्रोताओं के प्रश्न आमंत्रित करते थे और उनके उत्तर देकर सभा समाप्त कर देते थे। पुस्तकें उन्होंने नहीं लिखीं। उनके नाम से जो पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं वे उनके प्रवचनों के संकलन हैं जिन्हें उनके प्रशंसकों ने समय-समय पर प्रकाशित कराया। पुस्तकों में उनका विश्वास नहीं था। एक बार दिल्ली में वे प्रधानमंत्री इंदिरा गाँधी के बंगले में ठ्हरे थे। जो विशिष्ट व्यक्ति उन से मिलने गये, उनमें कैबिनेट मंत्री मोरारजी देसाई भी थे। उन्होंने बैठते ही कृष्णमूर्ति से अनेक प्रश्न पूछ डाले। उनके प्रश्नों को सुनकर कृष्णमूर्ति ने मुस्कुराते हुए कहा मैंने रामायण ग्रंथ नहीं पढ़ा है, उसके बारे में कुछ नहीं कहूँगा। मोरारजी भाई के प्रश्न रामायण के बारे में ही थे। कृष्णमूर्ति का उत्तर सुनकर मोरारजी देसाई ने आश्चर्य की मुद्रा में कहा आपने रामायण जैसा ग्रन्थ नहीं पढ़ा। आपसे क्या बात करें। मोरारजी उठकर चले गए।

कृष्णमूर्ति के दो-एक महत्वपूर्ण विचारों का उल्लेख कर मैं यह लेख समाप्त करूँगा। सौन्दर्य ऐसा विषय है जिसे अनेक विद्वानों ने विवेचित विश्लेषित किया है। कृष्णमूर्ति का कथन है - **"जिसे हम सुन्दरता कहते हैं वह समय के क्षेत्र के भीतर ही है। लेकिन मुझे महसूस होता है कि सौन्दर्य समय से परे है तथा सौन्दर्य को जानने के लिए अनुभवकर्ता के आत्म का समर्पण आवश्यक है। सौन्दर्य तथा जो शाश्वत है इन्हें अलग नहीं किया जा सकता। जो शाश्वत है अनश्वर है उसका पता लगाने के लिए आपके मन को समय के ज्ञान से मुक्त होना होगा। समय अर्थात् परम्परा, संचित ज्ञान एवं अतीत का अनुभव।"**

अकेलेपन से प्रायः लोग दुखी रहते हैं। अकेलेपन के बारे में कृष्णमूर्ति का विचार है-- इस अकेलेपन के कारण, अलगाव के इसी एहसास के कारण हम किसी ऐसे से अपना तादात्म्य स्थापित करने की कोशिश करते हैं, जो मन से श्रेष्ठतर हो- वह देश या राज्य हो सकता है अथवा एक आदर्श या फिर ईश्वर की कोई धारणा हो सकती है। **कुछ महान अथवा अनश्वर कुछ ऐसा जो हमारे विचारों से बाहर हो, उससे तादात्म्य कर लेना ही सामान्यतया धर्म कहलाता है। धर्म अलगाव पैदा करता है। धर्म, राष्ट्रीयता, नस्ल, वर्ण और जाति से अलगाव ही उत्पन्न होता है।**

एकाकी होना निश्चित ही अलगाव नहीं है। अनूठा होना तो एक तरह से विशिष्ट होना भर है, जबकि पूर्णतः एकाकी होना असाधारण संवेदनशीलता, प्रज्ञा व समझ की माँग करता है।

जाति-धर्म, देश-काल आदि संकीर्णताओं से मुक्ति सन्देश देकर विश्व मानवता को जाग्रत करने वाले कृष्णमूर्ति एक सिद्ध पुरुष थे। वे जानते थे कि उन्हें कब यह संसार छोड़ कर जाना है। इसलिए **अपने श्रद्धालुओं को उन्होंने सन्देश दिया कि उनकी मृत्यु के उपरान्त उनके बारे में कोई स्मारक न बने, मृत्यु सम्बन्धी कोई कर्मकाण्ड न हो, एक शिक्षक को देवता न बनाया जावे। शिक्षक नहीं, शिक्षा होती है।** इस अंतिम सन्देश को जिद्दू कृष्णमूर्ति 17 फरवरी सन् 1986 को इस संसार को छोड़ अनंत तेज में जा मिले।

भारतीय विद्यालय मार्ग
देवीपुरम् कॉलोनी
शिवपुरी, म.प्र.-473551
मो. -8989007999

●

धर्म तथा धर्मांतरण

डॉ. राजेश वर्मा

धर्म को समझना विज्ञान से कठिन है क्योंकि विज्ञान एक निश्चित सिद्धांत पर कार्य करता है, और एक बार किसी सिद्धांत पर निश्चितता बन गयी, फिर उस पर कोई बहस नहीं उसके परिणाम बार-बार एक ही होते हैं। मुझे लगता है कि ज्ञान की सभी विधाओं में सबसे अधिक तर्क-वितर्क धर्म के विषय पर ही हुआ है, जो निरंतर चल रहा है। हजारों वर्षों से धर्म की व्याख्या चल रही है लेकिन अब तक सब कुछ अनिश्चित।

परिवार की पैतृक सम्पत्ति एवं विरासत के रूप में ही एक व्यक्ति अपने धर्म को सर्वप्रथम ग्रहण करता है। धर्म का हस्तांतरण पीढ़ी-दर-पीढ़ी पूर्वजों द्वारा अगली संततियों को किया जाता रहा है-- संस्कारों के माध्यम से जब तक एक व्यक्ति बड़ा होता है तब तक उस व्यक्ति के अंदर उसके पूर्वजों द्वारा संग्रहित एवं संचालित धार्मिक परम्पराओं का पूरी तरह समावेश हो चुका होता है और उसकी एक धार्मिक पहचान बन चुकी होती है। अतः व्यक्ति का जन्म ही उसके धर्म का निर्धारण करता है। धर्म ग्रहण करने पर कर्म का सिद्धांत लागू नहीं किया जा सकता। ऐसा कोई धर्म नहीं जिसे कोई व्यक्ति अपने कर्मों से प्राप्त करता हो। यद्यिप सदकर्मों की बात सभी धर्मों में निहित है, तथापि एक व्यक्ति सद्कर्म करे या दुष्कर्म, उसे अपने जन्म के आधार पर प्राप्त धर्म से कोई भी वंचित नहीं कर सकता।

धर्म की उत्पत्ति अनिश्चित है। इस संबंध में जितने धर्म उतने मत। लेकिन धर्मांतरण का इतिहास ज्ञात है। धर्मांतरण सभी धर्मों में हुआ है-- किसी में अधिक, किसी में कम। प्राचीन यूनान में हमारी तरह ही अनेक देवी-देवताओं की पूजा होती थी। यूनानी देवताओं में ज़ेसू (आकाश देव) एवं उनके अन्य पारिवारिक देव, उदाहरणतः पोजेडन (समुद्र देव), ऐरेस (युद्ध के देवता), एफ्रोडाइट (प्रेम की देवी), एथेना, अपोलो इत्यादि प्रमुख थे। उनकी मूर्तियां भी थीं। प्राचीन रोम में भी वेस्टा, जानुज, जुपिटर, मार्स इत्यादि देवता थे।[1] फिर रोम से ईसाई धर्म फैलने लगा और पूरे यूनान पर छा गया। रोम का सम्राट कांस्टेंटाइन (306-337 ई.) सर्वप्रथम ईसाई बनने वाला सम्राट था। उसने ईसाई धर्म का फैलाव किया। यूनानी मूर्तिपूजक कहीं नहीं रहे। पूरे यूरोप में ईसाई धर्म का झंडा लहराने लगा। इसमें हजार वर्ष लग गये और यह पूर्वी यूरोप तक पहुंच गया। फ्रांस, जर्मनी, इंग्लैंड जैसे देशों में जनजातियों का निवास था। उनकी अपनी मान्यतायें रही होगी, पर उन्हें रोमन धर्म-परिवर्तित ईसाई सम्राटों ने अपने धर्म में

परिवर्तित कर दिया। सैंकडों वर्ष बाद तक यही प्रक्रिया अन्य महाद्वीपों में भी चलती रही।

मध्य एाीया में अरबों की भी अपनी कबीलाई परम्परायें थीं। वहां सातवीं शताब्दी में इस्लाम का अभ्युदय हुआ जो तलवार के बल पर, कुछ वर्षों में ही एशिया-अफ्रीका में फाल गया। ईसाई एवं ईस्लाम मतावलंबियों द्वारा सबसे अधिक संख्या में धर्मांतरण किये गये, इस तथ्य में कोई द्विविधा नहीं है।[2]

भारत में भी एक परम्परा से दूसरी परम्परा में परिवर्तन का इतिहास रहा है। सिंधु घाटी के लोगों के बारे में तो सच्चाई से पता नहीं, लेकिन परवर्ती कालों में वैदिक धार्मिक परम्परा में मतभेद उठने लगे थे। फलस्वरूप, जैन एवं बौद्ध मतावलंबियों का उद्भव हुआ। बाद में तो अनेक सम्प्रदायों का निर्माण हुआ, जिन्हें प्रायः हिंदू के बृहत छाते में मान्यता मिलती रही। भारत के एक इतिहासकार प्रोफेसर डी एन झा ने भारतीय इतिहास कांग्रेस के एक सम्मेलन मे अपने अध्यक्षीय भाषण में हिंदू, बौद्ध एवं जैन मतावलंबियों के बीच भयानक संघर्षों की चर्चा की और भारतीय सहिष्णुता की परम्परा पर प्रश्नचिन्ह खड़ा कर दिया।[3]

मेरा प्रश्न है कि क्या धर्मांतरण तर्कसंगत है? क्या किसी की धार्मिक मान्यता को सच्चे अर्थ में परिवर्तित किया जा सकता है? यहां पर थोड़ी सी धर्म की व्याख्या उचित है। धर्म का समकक्ष 'रिलिजन' का अर्थ 'आत्मा का परमात्मा में पुनर्मिलन' बताया गया है। इसकी व्याख्या श्री स्वामी शिवानंद ने 'ऑल एबाउट हिंदुईज़्म' में की है। उन्होंने हिंदू धर्म के संबंध में भी ऐसी ही व्याख्या की है।[4] वस्तुतः हिंदू धर्म में 'धर्म' शब्द की व्याख्या काफी विस्तृत है। इसका शाब्दिक अर्थ 'धारण करना' है, जबकि इसे अन्य रूपों में 'कर्त्तव्यपरायणता' एवं 'आचार' भी कहा गया है। ऐसी व्याख्यायें सभी स्थापित धर्मों में मिल सकती हैं। लेकिन सबके मूल में यही तथ्य है कि एक असाधारण सत्ता है, जिससे इस संसार का लालन-पालन हो रहा है और उस सर्वशक्तिमान एव सर्वव्यापी सत्ता, जिसे ईश्वर कहा गया है, की अराधना हेतु जो संस्थायें बनी वही धर्म है।

स्थापित धर्मों के आचार्यों ने तो धर्मशास्त्रों की व्याख्याओं के माध्यम से बहुत कुछ कह दिया है और उनके अनुयायी उन्हें मानते भी हैं। लेकिन एक ऐसे समाज में जहां धर्मशास्त्र तो लिखित रूप में उपलब्ध नहीं है लेकिन आदिम युग से वहां भी धार्मिक मान्यतायें रही है। हम अपने आराध्य को कुछ और कहें, लेकिन उनके भी आराध्य पूजनीय रहे हैं। मैं वैसी जनजातीय समाज की बात कर रहा हूँ जहां लेखन कला तो विकसित नहीं हो पायी लेकिन धार्मिक विश्वास की एक प्राचीनतम परम्परा है। जिस प्रकार हम अपने देवी-देवताओं को लेकर अभिभूत हो जाते हैं, वैसा उनमें भी है। धार्मिक विधि-विधान, मंत्र, मान्यतायें, शुभ-अशुभ, लगन-नक्षत्र, क्या नहीं है? त्योहार उत्सव सब कुछ अरुणाचल प्रदेश की आदी जनजातियों में सूर्य एव चांद की अराधना की एक गहन परम्परा है जिसे वे क्रमशः दोनी एवं पोलो के नाम से संबोधित करते हैं।[5] ऐसी मान्यतायें अन्य धर्मों में भी दृष्टिगोचर होती हैं। फिर किन अर्थों में उनका धर्मिक विश्वास अर्थहीन या भिन्न है? हां, समाजशास्त्रियों ने एक विभाजन रेखा अवश्य खींच रखी है-- महान (ग्रेट) एवं छोटी (लिटिल) धार्मिक परम्परा की। मैं जहां तक इसे समझ पाया हूं वह यह है कि जिन स्थापित धर्मों में बृहद् धार्मिक ग्रंथ एवं उनकी दार्शनिक व्याख्यायें उपलब्ध हैं वे प्रथम श्रेणी में और जिनमें उनका अभाव है वे दूसरी श्रेणी में, तो बात पुनः पांडित्य पर आ टिकती है। हम कितना विश्लेषण, कितनी विवेचना कर सकते हैं। इसमें विश्वास और धार्मिकता गौण होने लगती है।

अब धर्मांतरण तर्कसंगत क्यों नहीं है, इस संबंध में कुछ व्याख्यायें प्रस्तुत करना चाहता हूँ। धर्मांतरण का आधार प्राचीन काल से राजनीतिक अधिक एवं धार्मिक आस्था का कम रहा है। सर्वविदित है कि राजनीतिक सत्ता का प्रयोग सर्वाधिक रूप से इसके

लिये किया जाता रहा है। साम्राज्यवादी युगों में तो सबसे अधिक धर्मांतरण हुए। क्यों? सम्राटों को नये-नये प्रदेशों पर विजय पाना था जहां विरोध होना स्वाभाविक था। जहां तक संभव हुआ विरोध को बलपूर्वक दबाया गया। लेकिन विजितों के विश्वास को प्राप्त करने के अन्य साधन उस समय नहीं थे। राजवंशीय शासनकालों में कल्याणकारी कार्यों का महत्व गौण था। बल्कि विजितों पर अधिक दबाव डालने की परम्परा थी। ऐसे में धर्मांतरण द्वारा समाज के कुछ लोगों का समर्थन प्राप्त किया जा सकता था। पूर्णरूपेण धर्मांतरण का शिकार यूरोप, मध्य एशिया एवं अमेरिका हुआ। तर्क इस बात में था कि शासक अपनी इच्छानुरुप धार्मिक मान्यतायें चाहता था। कभी-कभी ऐसा एक राजनीतिक समाधान हेतु भी किया गया। यूरोप में रोमन चर्च की सत्ता के विरोध में एक धार्मिक आंदोलन सोलहवीं शताब्दी में हुआ। काफी रक्तपात के बाद 1555 ई. में ऑग्सबर्ग में एक समझौता हुआ जिसमें जर्मनी के राज्यों के शासकों को यह स्वतंत्रता दी गयी कि वे अपनी इच्छानुसार तय करें कि उनकी प्रजा किस धार्मिक मत का पालन करेंगी। अर्थात् शासक की इच्छानुरूप प्रजा का धर्म निर्धारित किया गया।[6] यह धर्म के राजनीतिकरण का एक बेजोड़ नमूना था।

धर्मांतरण का एक आधार, खासकर पश्चिमी देशों द्वारा, यह भी बनाया गया था कि वहां के शासकों एवं मिशनरियों के ऊपर एक स्वयंसिद्ध 'बोझ' या 'दायित्व' था जिसे 'गोरेलोगों' का बोझ या दायित्व की संज्ञा दी गयी। इस मानसिकता का पालन करते हुए उन्होंने तथाकथित 'जंगली' एवं 'असभ्य' लोगों को सभ्य बनाने का बीड़ा उठाया। विधर्मियों में उनकी अपनी ही धार्मिक परम्परा के प्रति विक्षोभ एवं अविश्वास फैलाया गया। इस प्रकार बल प्रयोग के अतिरिक्त उनपर एक मानसिक विजय भी प्राप्त करने का प्रयास किया गया। धर्मांतरण का यह एक दूसरा प्रयोग था।

ये सब तो इतिहास की बातें हैं, और ऐसे दृष्टांत विरले नहीं अपितु असंख्य हैं। लेकिन आज के समय में अगर देखा जाय तो धर्मांतरण के कुछ विचित्र आधार देखने मिलते हैं। अभी धर्मांतरण के वे रूप दृष्टिगोचर नहीं है जो इतिहासों में उल्लेखित हैं बल्कि कुछ व्यक्तिगत धर्मांतरण के हास्यास्पद रूप देखने-सुनने में आते हैं। अभी हाल की बात है। राजस्थान के एक अधिकारी द्वारा धर्मांतरण करने या धर्मांतरण कर लेने की बात आयी। क्यों? क्योंकि उन्हें उचित पदोन्नति नहीं दी गयी। एक कलाकार द्वारा धर्मांतरण इसलिये किया गया कि हिंदू धर्म में रहते हुए दूसरा विवाह नहीं कर सकता था, बिना पहली पत्नी को तलाक दे दिया। यह बिल्कुल एक व्यक्तिगत प्रश्न है जिसपर प्रश्न उठाना उचित नहीं। लेकिन ऐसा करके कोई दावा करे कि उसे धर्म में ईश्वर की प्राप्ति नहीं हुई अतः वह अन्य धर्मों में उसे तलाश रहा है यह बात कुछ अटपटी सी लगती है।

सामाजिक परम्पराओं की जटिलताओं एवं आर्थिक कष्टों से निवारण हेतु धर्म परिवर्तन करने के तर्क अति प्रचलित हैं। मैं भी इसे मानता हूं कि जब एक व्यक्ति को ऐसी परेशानियां झेलनी पड़ती है तो उसे सब कुछ छोड़ने की इच्छा होती है, यहां तक की अपने प्राण भी। ऐसे में अगर एक अन्य धर्म के धर्माचार्य यह कहें कि हमारे धर्म में आओ, और सब कुछ पाओ तो यह बात विशुद्ध व्यापारिक लगती है। महात्मा गांधी ने इस संबंध में कहा था कि धर्म कोई वस्तु-विनिमय नहीं है जिसे कोई भौतिक लाभ के लिये बदल ले।[7] वस्तुतः महात्मा गांधी ने धर्मांतरण के प्रश्न पर बड़ी निर्भीकता से अपने विचार रखे थे। इस प्रश्न पर उन्होंने ईसाई मिशनरियों को आड़े हाथों लिया और मानवतावादी कार्यों की आड़ में हरिजनों एवं आदिवासियों को उनके धर्म परिवर्तन करने के लिये प्रेरित करने की कटु आलोचना की।[8] सामाजिक एवं आर्थिक समस्याओं के समाधान के अनेक मार्ग हो सकते हैं। इसके लिये धर्मांतरण का मार्ग उचित

नहीं लगता। और क्या गारंटी है कि धर्मांतरण के बाद वैसी समस्यायें पुनः प्रकट नहीं होगी। यूरोप और मध्य एशिया में धार्मिक समरसता उपर से तो दिखायी देती है लेकिन वहां भी इन समस्याओं का अंत हो गया, ऐसा नहीं कहा जा सकता।

ये सब तो आज की बातें हैं। आज से दो हजार वर्ष पूर्व जब लोग बौद्ध मत में खूब प्रवेश कर रहे थे तब भी एक बौद्ध शिक्षक ने यह स्वीकार किया था कि लोग अनेक उद्देश्यों से इस सम्प्रदाय में आ रहे हैं। ऐसी चर्चा बौद्ध ग्रंथ 'मिलिंद के प्रश्न' अथवा 'मिलिंद पन्ह्' में मिलती है। भारत के उत्तर-पिश्चम सीमांत क्षेत्र का यूनानी-बैक्ट्रियन राजा मिलिंद (जिसका वास्तविक नाम मिनेंडर था) ने बौद्ध शिक्षक नागसेन से प्रश्न पूछा कि क्या बौद्ध संस्था में लोग अपने दुःखों की मुक्ति हेतु प्रवेश करते हैं, तब नागसेन ने उत्तर दिया, 'नहीं', कुछ लोग नरेशों के कोप से बचने के लिये प्रवेश करते हैं, कुछ दस्युओं से सुरक्षा हेतु, कुछ ऋण से बचने हेतु और कुछ शायद जीविका प्राप्त करने हेतु"।[9] अतः धर्मांतरण का गैर-धार्मिक पक्ष प्रारंभ से ही सबसे अधिक प्रबल रहा।

पर मैं यहां धर्मांतरण को विशुद्ध धार्मिक पक्ष के साथ जोड़कर कुछ संवाद करना चाहता हूं। अगर मैं अपने धर्म में वर्षों तक विश्वास करता रहा, उसके देवी-देवताओं की पूजा-अर्चना करता रहा और अगर आज मुझे लगे कि मेरा अपने धर्म के प्रति विश्वास एक भ्रम था और इसलिये मुझे दूसरे धर्म को मान लेना चाहिये, तो मुझे इसमें कोई तर्क नज़र नहीं आता। मेरा व्यक्तिगत विचार है कि मैं जिस धर्म का पालन करता रहा और उसे छोड़कर किसी अन्य धर्म का पालन करने लगूं, तो या तो मेरी तर्क शक्ति क्षीण है या मैं सर्वधर्म-समभाव में विश्वास नहीं करता। पुनः मैं अपने प्रारंभिक प्रश्न पर आता हूं। अगर ईश्वर है तो वह सभी धर्मों में है और नहीं है तो कहीं नहीं। किसी की मान्यतायें चाहे 'महान परम्परा' की हों चाहे 'छोटी परम्परा' की, कोई भी उसपर अपना पांडित्य सिद्ध नहीं कर सकता। तर्क द्वारा उसकी श्रेष्ठता सिद्ध नहीं की जा सकती।

हां हम यह मान सकते हैं कि ईश्वर नहीं है। ऐसे उदाहरण हिंदू दर्शन में भरे पड़े हैं जब लोगों ने ईश्वर के अस्तित्व पर ही प्रश्नचिह्न खड़े कर दिये। भारत में चार्वाक अथवा लोकायत नास्तिक दर्शन का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है जिसका मुख्य आधार छठी शताब्दी ईसा पूर्व में रचित ग्रंथ बृहस्पति सूत्र को माना जाता है। बौद्ध एवं जैन दर्शनों में भी ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नहीं किया गया है। यूरोप में भी अनेक दार्शनिक हुए जिन्होंने धर्म एवं ईश्वर को नकार दिया। यूरोप में सुकरात के पूर्व से ही धर्म पर प्रश्नचिह्न लगाये जा रहे थे। आधुनिक काल में फ्रांस के पियरे जोसफ प्रूधन एवं जर्मनी के साम्यवादी चिंतक कार्ल मार्क्स को अपने नास्तिक विचारों के लिये भी जाना जाता है। आज विश्व के अनेक देशों में धर्म में विश्वास नहीं रखने वालों को एक अलग वर्ग के रूप में मान्यता मिली हुई है जिन्हें 'अथेईस्ट' अर्थात् नास्तिक कहा जाता है। गालप इंटरनेशनल द्वारा 2015 में विश्व के 65 देशों में कराये गये एक सर्वेक्षण में यह बात उभरकर सामने आयी कि वहां के लगभग ग्यारह प्रतिशत लोग नास्तिक हैं। वस्तुतः स्कैंडेनेविया, नीदरलैंडस् एवं पूर्वी एशिया में, विशेषकर चीन में अधिकतर लोगों को नास्तिक एवं अधार्मिक बताया गया है। विश्व के नास्तिक एवं अधार्मिक लोगों की जनसंख्या का सबसे अधिक प्रतिशत (76 प्रतिशत) एशिया एवं प्रशांत क्षेत्र में, और उसके बाद यूरोप (12 प्रतिशत), उत्तरी अमेरिका (5 प्रतिशत), सेंट्रल अमेरिका एवं कैरीबियन (4 प्रतिशत), उप-सहारा अफ्रिका (2 प्रतिशत), एवं मध्य एशिया एवं उत्तरी अफ्रिका (1 प्रतिशत से कम) में निवास करता है। इसी प्रकार प्यु रिसर्च सेंटर द्वारा 2012 में 230 देशों में कराये गये एक सर्वेक्षण में यह बताया गया है कि विश्व की लगभग 16 प्रतिशत जनसंख्या किसी भी धर्म से संलग्न नहीं थी।[10]

यह एक तर्कसंगत बात हो सकती है कि हम धर्म या ईश्वर को मानें या न मानें पर धर्मांतरण तर्कसंगत लगता। धर्म के मूल में मैं ईश्वर को ही मानता हूं जिसे आदिम काल से लोगों ने अनुभव किया था। लेकिन जब राज्य संस्था के निर्माण के साथ-साथ धर्म ने भी एक संस्थागत रूप लेना प्रारंभ कर दिया तब इसका भी राजनीतिक रूप अधिक बनने लगा और धार्मिक रूप गौण पड़ता चला गया। इसका संबंध भौतिकता से अधिक प्रगाढ़ हो गया। धार्मिकता के साथ-साथ राजनीतिक दाव-पेंच में यह अधिक संलग्न हो गया जिससे इसकी स्वयं की छवि भी धूमिल हुई। आज के धर्मांतरण में निजी स्वार्थ परिलक्षित होता है, जैसे कोई एक राजनीतिक दल को छोडकर किसी अन्य दल में। प्रवेश करता है या किसी एक क्लब को छोड़कर दूसरे क्लब में, हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि ईश्वर की एकता या अनेकता का प्रश्न अभी भी अनसुलझा हुआ है। लेकिन अगर एक बार सभी धर्मों के प्रवक्ता "एकम् सत्, विप्रम् बहुधा वदंति" वाक्य को एक साथ एक मंच पर स्वीकार कर लें तो सारी समस्याओं का अंत हो जाय। एक साथ अगर यह घोषणा कर दी जाय कि करोड़ों लोगों ने जो धार्मिक अनुभव किये या जिन धर्मों का पालन वे कर रहे हैं उन सबका वे आदर करते हैं तो धर्मांतरण का कोई मतलब नहीं रह जायेगा।

संदर्भ

1. थॉमस नोबल एवं अन्य, वेस्टर्न सिविलाइज़ेशन, बोस्टन, 1999, पृ. 37 एवं 70। **2.** मरे टी टाइटस, ईस्लाम इन इंडिया एंड पाकिस्तान, कलकत्ता, 1959, पृ. 30-35 (इस पुस्तक में इलियट एवं डाउसन द्वारा लिखित पुस्तक 'हिस्ट्री ऑफ इंडिया' से काफी उद्धरण लिये गये हैं।) **3.** डी एन झा, लुकिंग फॉर ए हिंदू आइडेंटिटि, इंडियन हिस्ट्री कांग्रेस, शांतिनिकेतन, 2006, अध्यक्षीय भाषण। **4.** श्री स्वामी शिवानंद, ऑल एबाउट हिंदुईज़्म, वेब संस्करण, 1999, पृ. 10-32। **5.** एस दत्ता चौधरी (संपादक), अरुणाचल प्रदेश गजेटियर, ईस्ट एवं वेस्ट सियांग जिला, अरुणाचल प्रदेश सरकार, 1994, पृ. 83। **6.** सी जे एच हेज़, मॉडर्न यूरोप-1870 तक, दिल्ली, 1977, पुर्नमुद्रण पृ. 144। **7.** संध्या मेहता (संकलित एवं संपादित), गांधीजी ऑन रेलिजियस कन्वर्जन, मुंबई, 2002, पृ. 5। **8.** संपूर्ण गांधी वांङ्मय, खंड 46, पृ.28, उल्लिखित संध्या मेहता, पृ. 14। **9.** भिक्खु पेसाला, द डिवेट ऑफ किंग मिलिंद, संकलित, दिल्ली, 1998, पृ. 37। **10.** 'स्त्रोत विकीपीडिया, देखा गया 22 दिसंबर 2016।

एसोसिएट प्रोफेसर, इतिहास विभाग
गवर्नमेंट मॉडल कॉलेज, सेपा
ईस्ट कामेंग, अरुणाचल प्रदेश - 790102
मो. - 9436049727

प्रतिस्वर

अभी-अभी वैचारिकी का सितंबर-दिसंबर 2021 का आचार्य चतुरसेन कृत अर्थभाष्यम् विशेषांक डाक से मिला है। पौराणिक भारत की सांस्कृतिक धरोहर के संक्षिप्त लेकिन सुंदर और पूर्ण विवेचन के लिये आपको एवं विद्वान संपादक श्री बाबूलालजी शर्मा को मैं हार्दिक धन्यवाद देता हूं। यह एक बड़ा महत्वपूर्ण कार्य संपादित हुआ है, जिससे बहुभागी नई पीढ़ियां शायद अनजान ही है। मैं स्वयं को धन्यभागी समझ रहा हूं कि मेरे पास महान विद्वान लेखक श्री चतुरसेन की अमूल्य पुस्तक 'वयं रक्षाम' अपने भाष्य सहित उपलब्ध है। इस विशेषांक को पूरे चिंतन-मनन के साथ गंभीरता से पढ़ूंगा और भारतीय पुरातन इतिहास पर फिर से गौरव अनुभव करूंगा। आप सभी को एक बार फिर से इस कार्य संपादन के लिए धन्यवाद देता हूं।

राममोहन लखोटिया
सी/498 लेक गार्डेन, कोलकाता-700045
मो.-9830033478

भक्त-कवि शंकरदेव की रहस्यानुभूति

प्रांजल कुमार नाथ

रहस्य शब्द का शाब्दिक अर्थ है गुढ़ या छिपा हुआ, गोपनीय विषय, मर्म भेद, निर्जन एकांत में घटित वृत्त, दुर्बोध्य तत्व आदि । इस प्रकार रहस्य का अर्थ है एकांत संबंधी विषय, "जिनके अस्तित्व के बारे में हमें ज्ञात है, मगर हमारे ज्ञान और और बुद्धि से जिसको हम कभी नहीं पहचान पाते वही रहस्य है।" (शइकिया, 2003, 11)।

रहस्यानुभूति के संदर्भ में हम कह सकते हैं कि सभी व्यक्तियों के मन में कुछ चिरंतन प्रश्न होते हैं, जिनके उत्तर सहजता के साथ नहीं मिलते। जिन प्रश्नों के उत्तर पाने के लिए मनुष्य प्राचीन काल से ही प्रयत्नशील है, वही रहस्यानुभूति है। जिस अंतर्दृष्टि से कवि इस सृष्टि के परम सत्य की उपलब्धि करे, उसी दैविक अनुभूति को साहित्यिक क्षेत्र में साधित करना ही रहस्यवाद है । उपनिषद में कहा गया है- "गह्य ब्रह्म तदिंद बव्रीमि' यानि ब्रह्म ही रहस्य है और उसी से संबन्धित वाद या बात रहस्यवाद है। रहस्यवाद को अंग्रेजी में (Mysticism) कहा जाता है, जो ग्रीक शब्द (Muco) से आया है और जिसका अर्थ है एक आध्यात्मिक विश्वास जो मनुष्य के ज्ञान से भी परे है। इस अर्थ के पीछे मनुष्य के उस सर्वशक्तिमान से तादात्म्य स्थापित करने की इच्छा निहित है। नगेन शइकिया लिखते हैं कि 'जिसके अस्तित्व को लेकर हम निश्‍चित हैं लेकिन हमारे ज्ञान और बुद्धि से जिसको हम कभी देख नहीं पा रहे हैं वही हमारे लिए रहस्य है।' (शइकिया, 2012, 11)।

असल में रहस्यभावना तो मनुष्य का एक अत्यंत स्वाभाविक प्रकाशन है, और इसका प्रवाह धर्म, दर्शन, साधना, भक्ति और साहित्य आदि प्रायः सभी क्षेत्रों में हुआ है ।

रहस्यवाद के भेद

विभिन्न विद्वानों ने रहस्यवाद के अनेक भेद बताए हैं। पाश्चात्य विचारक स्पर्जियन (strurgcon) के अनुसार रहस्यवाद चार प्रकार के होते हैं--

1. प्रेम और सौंदर्य संबंधी रहस्यवाद ।
2. दर्शन संबंधी रहस्यवाद ।
3. प्रकृति संबंधी रहस्यवाद ।
4. धर्म और उपासना संबंधी रहस्यवाद।

पाश्चात्य विचारक स्पर्जियन की तरह भारतीय विद्वान आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी रहस्यवाद के दो भेद किए हैं--

1. साधनात्मक रहस्यवाद।

2. भावात्मक रहस्यवाद।

स्पष्ट है कि आधुनिक रहस्यवादी, साधना से ज्यादा प्रेम को सर्वस्व और सर्वोत्कृष्ट साधन मानते हैं। इसीलिए आधुनिक कालीन रहस्यवाद को भावात्मक रहस्यवाद कहना से भी गलत न होगा। 'भावात्मक रहस्यवाद', 'साधनात्मक रहस्यवाद' की अपेक्षा निश्चित रूप से अधिक सरस और हृदयग्राही है। शायद इसीलिए आधुनिक रहस्यवादी कवियों- जयशंकर प्रसाद, निराला, महादेवी वर्मा आदि ने इसी भावात्मक रहस्यवाद को ही अपना साधन बनाया। असमीया साहित्य जगत में भी शंकरदेव और माधवदेव ने रहस्यवाद के इन्हीं रूपों को लेकर साहित्य सृजन किया है। अब हम शंकर देव की रहस्यानुभूति के ऊपर चर्चा करने जा रहे हैं ।

शंकरदेव की रहस्यानुभूति

कहा जाता है असमीया साहित्य जगत में रहस्यानुभूति का प्रथम प्रकाश महापुरुष माधव कृत 'नामघोषा' में देखने को मिलता है। उनका हृदय भगवान की भक्ति से पूर्ण है। इसी भक्ति भावना की वजह से भगवान के प्रेम में पागल होकर भगवान विष्णु को उन्होंने सखा, सुहदय, प्रियतम आदि अनेक नामों से पुकारते हुए उनको हृदय में स्थान दिया है। उन्हीं के गुरु शंकरदेव के साहित्य में भी ऐसी रहस्यमयी भावानुभूति बिखरी हुई है। बचपन में ही स्वर वर्ण और व्यंजन वर्ण सीखकर- 'करतल कमल कमल दल नयन' करके जो कविता उन्होंने लिखी, उसी में उनके रहस्यभाव का आभास मिल जाता है ।

शंकरदेव का बौद्धिक रहस्यवाद

साधनात्मक रहस्यवाद वेदमूलक है। शंकरदेव ने अपनी साधना द्वारा उस परमतत्व का साक्षात्कार कर लिया था। वह परमतत्व जिसके बिना सब कुछ असार है, शून्य है। उन्होंने स्पष्ट रूप से कह दिया है--

'जनिलु तोमाक जगत ईश्वर
तुमि सनातन हरि।
समस्त भूतर तुमि प्राणवल
जगतके आछा धरि।
स्रष्टारो स्रष्टा तुमि सर्वद्रष्टा
उद्धारि धरिला भूमि।
जीवर नियंता परम आत्मा
मृत्युरो अंतक तुमि ।।" (चौधरी, 1956, 32-33)।

(भावार्थः शंकरदेव को ज्ञात हो गए कि भगवान शाश्वत है। इस समस्त संसार की तुम प्राण शक्ति है, जिसके कारण यह दुनिया चल रही है। उन्हीं के द्वारा संसार का सृजन हुआ है। वे असीम शक्ति ही संसार का मूल हैं। जो मृत्यु से भी बहुत ऊपर हैं।)

शंकर के अनुसार उस परमब्रह्म को जानने के लिए लोगों को माया, मोह आदि से मुक्त होना पड़ता है। यह संसार भी एक माया ही है। संपत्ति-वैभव के मोहजाल में पड़कर लोग ईश्वर के असली स्वरूप को भूल जाते हैं। उस तत्व को भूल जाते हैं जिससे खुद की उत्पत्ति हुई हैं।

श्रीमदभागवत के सप्तम स्कन्ध में लिखा है कि मनुष्य का जीवन बड़ा ही दुर्लभ है। अनेक साधना के द्वारा ही इसकी प्राप्ति होती है और इसी कारणवश लोगों को ईश्वर की भक्ति में लीन होना आवश्यक है। साधक शंकरदेव को उस परम सत्य का आभास मिल गया था कि जिनकी इच्छा के बिना एक पत्ता भी नहीं हिलता। उनके बिना यह संसार अधूरा है। शंकर का वह परम तत्व पृथ्वी, वायु, जल, अग्नि, आकाश सब में व्याप्त है, सबसे ऊपर है। इस जगत का आदि-अंत-मध्य सब उन्हीं से जुड़ा हुआ है।

"जेन जलवायु पृथ्वी आकाश
व्यापि आछे चराचर
सेई मते मई मन बुद्धि प्राण
व्यापि आछो समस्तर
आपूनाते मई आपूनाके स्रजो
आपुनि पालो सकले
आपूनाके पाछे आपुनि संहारो
आपुनि मायर बले ।।" (शर्मा, 5)

(भावार्थः जिस तरह पृथ्वी, आकाश, वायु पूरी दुनिया में व्याप्त है। ठीक उसी प्रकार ईश्वर मन, प्राण,

बुद्धि सब में व्याप्त है। हमारा शरीर ईश्वर में ही समाया हुआ है। ईश्वर ने ही हमे बनाया है और अपनी माया द्वारा संहार भी करते हैं। हमें वह असीम शक्ति ही संचालन करते और अंत में हम उसी में लीन होते जायेंगे।) शंकरदेव ने कीर्तन में भी लिखा है--

'तुमि जगतर गति मति पितामाता ।।
तुमि परमात्मा जगतर ईश एक।
एको बस्तु नाहिके तोमत व्यतिरेक।।
सुवर्ण कुंडले जेन नाहिके अंतर ।।
तुमि पशु-पक्षी सुरासुर तरु-तृण ।
अज्ञानत मूढ़जने देखे भिन्न-भिन्न ।।' (मेधी, 1997, 2)

(भावार्थः परमात्मा भगवान ही इस संसार के माँ-बाप, गति-मति सब कुछ है। उनके बिना यह संसार कुछ भी नहीं है। कारण, कार्य सब कुछ वे ही हैं। संसार के हर एक छोटे-बड़े जीव उससे अंशाशीत है। मूर्खता के कारण ही लोग इसको अलग-अलग रूप में देखते हैं।)

शंकर के अनुसार जीव-जगत और इनमें कोई प्रभेद नहीं है। उस रहस्यमयी परमब्रहम ने यह दुनिया बनाई है। इस दुनिया की जब कोई अस्तित्व ही नहीं था, उस समय उस निरंजन, आनंद स्वरूप अंतर्यामी का आभास देने के लिए शंकर ने एक स्थान पर लिखा है---

'जगतर पुर्व्वे मई मात्र ठाको जान।
कार्य कारणर किछु नाछिलेक आन।।
मोक मात्र देखि थोक सृष्टिर मध्यत।
देखा सुना माने सवे मइ विराचत।।' (मेधी, 1997, 8)।

(भावार्थः संसार में जब कुछ भी नहीं था, न कुछ करने का कारण, न कुछ कार्य उस समय केवल यह परम सत्य ही थे। उन्हीं के द्वारा सबका सृजन हुआ है और सभी के शरीर में केवल उन्हीं का अस्तित्व ही विराजमान है।)

शंकरदेव ने इस संसार को एक अरण्य माना है। यहां मोह-माया का जाल चारों तरफ बिछाया हुआ है। हिरण की तरह घूमते-घूमते यहां जीव बंदी हो जाते हैं। काल स्वरूप व्याध हर वक्त जीव का पीछा करता रहता है। उन्होंने माया के बंधन में पड़ने के कारण खुद की भी निंदा की है

'ए भव गहन बन अति मोह पाशो उन्न
ठटे हामो हरिणा बेराइ।
फंदिलो मायर पाशे काल व्याध ढाया आसे
काम क्रोध कुत्ता खेदि खाइ। (महंत, 1992,74)

(भावार्थः इस संसार रूपी वन में हम एक हिरण हैं जिसको पकड़ने के लिए व्याध हमेशा हमारे पीछे काल के समान मंडराते फिरते हैं।)

शंकरदेव ने जीव, जगत, आत्मा, परमात्मा, ब्रह्म आदि के ऊपर पर्याप्त रूप से अपने काव्यग्रंथों में चर्चा की है। उससे यह पता चलता है कि इस जगत और जीव की उत्पत्ति उस परब्रहम से ही हुई है। संसार के हर एक छोटे-बड़े जीव उन्हीं के अंश हैं। जिस प्रकार हम पेड़ के डाल-पत्ते में पानी देने की बजाए केवल मूल में पानी देते हैं, ठीक शंकरदेव का रहस्यवाद भी उसी प्रकार है। उस परमब्रह्म को पूजने से ही सब कुछ ठीक होता है। 'कीर्तनघोषा' के प्रारम्भ में ही मंगलाचरण करके उन्होंने सबसे पहले उस ब्रह्म रूपी सनातन का आशीर्वाद लिया है, जो सर्वअवतारों के कारण हैं। शंकरदेव की वाणी में उस असीम तत्व का ही रहस्य विद्यमान है, जो पूर्णतः सत्य है और पूर्ण भी। इसके अलावा यह संसार असार है, शून्य है।

शंकरदेव का भावात्मक रहस्यवाद

इस प्रकार के रहस्यवाद का शंकर में अभाव है। उनके नाटक 'केलिगोपाल' या फिर 'रास क्रीडा' में कुछ भावात्मक रहस्यवाद का प्रकाश देखने को मिलता है। लेकिन वे भी खुद शंकर के नहीं हैं, शंकरदेव ने आराध्य श्रीकृष्ण प्रियतम के साथ गोपियों की प्रेम लीला को बहाना बनाकर ही इसका वर्णन किया है ।

'कहाकू चुमव्य वनमाली लागि मुख
आलिंगने गोपिक मिलत रति सुख ।।

उच्च कचु करु क्षत नखरे परशि ।

गोपालक केली कृष्ण किंकर कहसि ।।' (बरा, 1989, 203)।

लेकिन अंत में शंकर ने इसमें केवल प्रेमभक्ति के रहस्य को ही प्रधानता दी है। इसमें चित्रित विरह-प्रेम का एक उदाहरण निम्नलिखित है---

'प्राण गोपाल पिउ बिने नाहि रह जीउ
विरह दहानु दहे प्राण।
करतु बिलाप गोपाल गुण गावे
कृष्ण किंकर गुण गान'। (बरा, 1989,207-208)

(अर्थात गोपियों को विरह सहन नहीं हो रहा है। कृष्ण के बिना वे जीवित नहीं रह पाएंगी और उस कृष्ण से मिलने की आशा लगाये हुए उनके गुण-गान करके पीड़ा में गोपियाँ बिलाप कर रही हैं।)

इसके अलावा शंकरदेव ने एक बरगीत में लिखा है-

'कहरे उद्धव, कह प्रणारे बांधव
हे प्राण कृष्ण कब आवे।
पुछये गोपी प्रेम आकुल भावे
ए नहीं चेतन गावे।' (महंत, 2008, 94)

(शंकरदेव ने गोपियों को बहाना बनाकर कह रहे हैं कि हे उद्धव, हमारे प्राण स्वरूप कृष्ण के सखा तुम हमें यह बताओ कि कृष्ण कब आएंगे उनके बिना हम गोपियाँ जीवित नहीं रह पाएंगी।)

कृष्ण के सखा उद्धव से गोपी सब प्रेमाकुल स्वर से पूछती है कि उनके प्राण कृष्ण कब आयेंगे ? कृष्ण रूपी उस आत्मा के बिना उनके शरीर में अब चेतना नहीं रही है। शंकरदेव के नाटक 'रुक्मिणी हरण' में रुक्मिणी और 'राम-विजय' में सीता ने भी अपने प्राण प्रिय भगवान को साधारण प्रेमी की तरह नहीं, जगत के स्वामी के रूप में ही कल्पना की है। उसी रूप में दोनों ने अपने स्वामी की बन्दना भी की है।

निष्कर्ष

निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि रहस्यवाद एक प्रकार की आध्यात्मिक साधना है और प्रत्येक प्रकार की आध्यात्मिक साधना ब्रह्म जिज्ञासा से ही प्रवर्तित होती है । उस ब्रह्म जिज्ञासा को शंकरदेव ने अपनी वाणियों द्वारा प्रकट किया है और इस संसार की मंगल कामना की है। आधुनिक रहस्यवादियों में पाये जानेवाली आत्मसमर्पण और विरहानुभूति की भावना शंकरदेव के रहस्यवाद की विशेषता है। उन्होंने अपने भगवान को मालिक या पति माना है, पर उन्हें प्रेमी या प्रेमिका के रूप में कभी नहीं देखा। अगर उसमें थोड़ा सा भी इनका आभास मिल जाता है तो उसमें भी भक्ति को ही प्रधानता दी गयी है। शंकरदेव ने आत्मा और परमात्मा की सत्ता की एकता को रहस्यानुभूति की परमावस्था मानी है। इनके रहस्यवाद में एकत्व का प्रतिपादन भी है और एकत्व की भावानुभूति भी। उनके ब्रह्म निरुपाधित, अनिवर्चनीय हाम जो हमारे मन, वचन, इंद्रियों के अगोचर हैं। सभी चीजों को समाप्त करने के बाद जो शेष रह जाएगा, वही यह है और इसी रहस्यानुभूति को शंकरदेव ने तत्कालीन जनगण के सुविधानुसार प्रयोग करके एक नए समाज की स्थापना की।

संदर्भ

1. शइकिया, नगेन : साहित्यत वाद वैचित्य, कौस्तुभ प्रकाशन, डिब्रूगढ़, 2003, पृ. 11। **2.** शइकिया, नगेन : साहित्यत बाद बैचित्र्य, कौस्तुभ प्रकाशन, डिब्रूगढ़, असम, छोठा संस्करण, 2012, पृ. 11। **3.** चौधरी, रामानन्द : श्री श्री शंकरी धर्म आरु भक्तिसार, ज्योति प्रकाशन, पाणबजार, गुवाहाटी 1956, पृ. 32-33। **4.** शर्मा, सत्येन्द्र नाथ : श्री श्री शंकरदेव माधवदेव वाणी, पृ. 5। **5.** मेधी, कालिराम (सं.) : महापुरुष शंकरदेवर वाणी, पाणबजार, गुवाहाटी, 1997, पृ. 2। **6.** वही, पृ. 8। **7.** महंत, वापचन्द (सं.) : बरगीत, स्टूडेंच ष्तोर्च, कॉलेज हॉस्टेल रोड, गुवाहाटी, 1992, पृ. 74। **8.** बरा, माहिम (सं.) शंकरदेवर नाट, असम प्रकाशन परिषद, गुवाहाटी, 1989 पृ. 203। **9.** वही पृ. 207-208। **10.** महंत, वापचन्द्र (सं.) : बरगीत, स्टूडेंट्स ष्तोर्च, कॉलेज हॉस्टेल रोड, गुवाहाटी, 2008, पृ. 94।

शोधार्थी - हिन्दी विभाग,
गौहाटी, विश्वविद्यालय (आसाम)

•

उत्तराखण्ड में शैव, वैष्णव और शाक्त देवी-देवताओं की पूजन परंपरा

पवनेश ठकुराठी 'पवन'

उत्तराखण्ड के समाज निरूपण में जिस प्रकार यहां की भौगोलिक परिस्थितियां अपना महत्वपूर्ण योगदान देती हैं ठीक उसी प्रकार यहां का धार्मिक जीवन भी। कहा जाता है कि यहां करोड़ों देवी-देवता निवास करते हैं। देवी-देवताओं की अपार संख्या एवं सुदृढ़ धार्मिक जीवन के कारण ही उत्तराखण्ड को देवभूमि भी कहा जाता है। उत्तराखण्ड में प्राचीन काल से ही विभिन्न धर्मों के देवी-देवताओं को पूजने की परंपरा रही है। विभिन्न साक्ष्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि यहां मुख्य रूप से हिंदू धर्म से संबंधित शैव, वैष्णव और शाक्त धर्मों की देवी-देवताओं को पूजने की परंपरा सर्वाधिक प्रचलित हैं। उत्तराखण्ड के केवल कुमाऊँ मण्डल में 225 शिव मंदिरों, 60 शाक्त मंदिरों, 35 विष्णु मदिरों और संपूर्ण कुमाऊँ के हिमालय में 700 से अधिक प्रतिष्ठित मंदिरों[1] का मिलना इस बात की ओर संकेत करता है कि इन धर्मों के देवी-देवताओं की पूजन परंपरा यहां प्राचीन काल से चली आ रही है।

1. शैव धर्म के देवी-देवताओं की पूजन परंपरा

प्राचीन समय में शैव धर्म उत्तराखण्ड का सर्वाधिक प्रचलित धर्म था। इसके मुख्य दो कारण थे, पहला तो आर्य और आर्येतर सभी जातियां इस देवता के अस्तित्व को स्वीकार करती थी, दूसरा वैष्णव धर्म की अपेक्षा न तो इस धर्म में जटिल यज्ञ आदि थे और न ही अवतारवाद की इतनी लंबी पंक्ति थी कि प्रमुख देवता को निश्चित करना कठिन हो जाय।[2] निश्चित रूप से वैदिक साहित्य में शिव और उमा के पर्वतों से संबंध स्थापित करना इस बात को प्रकट करता है कि इन देवी-देवताओं की पूजन-परंपरा वैदिक काल में भी अवश्य रही होगी।

मध्यकाल में यहां कत्यूरी राजवंश के राजाओं ने शैव धर्म के मंदिरों की स्थापना कर उसे राजधर्म घोषित कर, इस धर्म के देवी-देवताओं की पूजन-प्रथा को और अधिक बढ़ावा दिया। इस धर्म के प्रमुख देवी-देवता शिव, कार्तिकेय, गणेष, लकुलीश, शिवगण आदि हैं। उत्तराखण्ड में कुणिंद शासकों की मुद्राओं के अनुसार शिव और कार्तिकेय के पूजन का प्रचलन तत्कालीन समाज में अवश्य रहा होगा। इस प्रकार कत्यूरी काल में ऐसी आकृतियों[3] का पाया जाना इस बात को स्पष्ट करता है। कुणिंदों के शासनकाल में शिव और कार्तिकेय

की आकृतियाँ मिलने से सिद्ध होता है कि कुणिंद शासक शैव मतावलंबी थे। इन्होंने उत्तराखण्ड में जागेश्वर, बागेश्वर, बालेश्वर कमलेश्वर, मणिमहेश, विश्वनाथ, बैजनाथ, केदारनाथ आदि स्थानों में शैव मंदिरों का निर्माण कराया तथा वहां शिव प्रतिमाएं स्थापित की।

युग शैल मही के शीलवर्मन और उसके पूर्व शासक पोण के जो विवरण मिलते हैं तथा लाखामण्डल की छागलेष की प्रशस्ति में जिन शासकों के नाम मिलते हैं, वे शिव की उपासना करते थे।[4] ह्वेन्नसांग के विवरण से गोविषाण में ब्राह्मण धर्म से संबंधित मंदिरों का होना पाया जाता है। कत्यूरी नरेशों के ताम्रपत्रों से विदित होता है कि अन्य धर्मो की अपेक्षा शैवधर्म उनका प्रमुख धर्म था। पाण्डुकेश्वर के ताम्रपत्रों में ललितशूर को परममाहेश्वर तथा धूर्जटि का कृपापात्र स्वीकार किया गया है। भूदेव के शिलालेख में उसे शिव का भक्त कहा गया है। पद्मदेव के ताम्रपत्र में उसके पूर्व शासक सलोणादित्य को भगवान चंद्रशेखर के चरण-कमल की धूल से पवित्र... तथा इच्छटदेव, पेषटदेव तथा उसको स्वयं को परममाहेश्वर स्वीकार किया गया है।[5] शिव की उपासना के लिए कत्यूरी शासकों ने अनेक मंदिरों का निर्माण करवाया जिनमें जागेश्वर के मृत्युंजय, दण्डेश्वर, लकुलीश तथा नटराज के मंदिर महत्वपूर्ण हैं। इसके अतिरिक्त द्वाराहाट का मृत्युंजय मंदिर, मनियान के मंदिर, रत्नदेव के मंदिर, बैजनाथ का राक्षस मंदिर, गोगेश्वर का मंदिर तथा लाखामण्डल का मंदिर भी उल्लेखनीय है।[6] नंदा जागर, गौरा-महेश्वर की लोकगाथाएं भी शिव पूजन परंपरा के चलन को प्रमाणित करती हैं।

उत्तराखण्ड के विभिन्न भागों में शैवधर्म की अनेक प्रतिमाएं मिलती हैं, जिनमें से कुछ तो मंदिरों की प्राचीरों, गवाक्षों, द्वारपट्टिकाओं तथा स्तम्भों पर उत्कीर्ण हैं तथा कुछ का निर्माण स्वतंत्र रूप से हुआ है। इन प्रतिमाओं में शिव का व्याख्यान देते हुए (दक्षिण मूर्तियां), प्रणय करते हुए, संहारक के रूप में, एकेश्वरता के प्रतीक के रूप में स्वयं को व्यक्त करते हुए तथा नृत्य मुद्रा में दर्शाया गया है। इस संदर्भ में लकुलीश प्रतिमाएं भी उल्लेखनीय हैं।[7] इस प्रकार इन साक्ष्यों से स्पष्ट होता है कि तत्कालीन समाज में शिव पूजन की परंपरा अत्यधिक लोकप्रिय थी। उत्तराखण्ड में शिव के असंख्य रूपों का आज भी पूजन किया जाता है, कहीं-कहीं तो मंदिरों में बलि भी दी जाती है। यहां आज भी शिव, गणेश, कार्तिकेय आदि शैव देवी-देवताओं की पूजा अर्चना बड़े व्यापक रूप में की जाती है।

शैव धर्म के सम्प्रदायों में यहां वीर शैव, पाशुपत और कापालिक के प्रचलन का उल्लेख मिलता है। इनमें से सर्वाधिक साक्ष्य पाशुपत सम्प्रदाय के मिलते हैं। छागलेश की प्रशस्ति के प्रारम्भ में सिद्धम अंकित किया गया है तथा उसके पश्चात पशुपति की उपासना की गई है।[8] लालढोंग और वीरभ्रद के मंदिर अवशेषों तथा श्रीगुह के बाराहाट अभिलेख और ईश्वर की लाखामण्डल प्रशस्ति से भी पाशुपत सम्प्रदाय पर प्रकाश पड़ता है। सातवीं शताब्दी के एक ताम्रपत्र में कपालेश्वर की पूजा का उल्लेख है। बैजनाथ की शिव प्रशस्तियों में भी इस मत की उन्नति का ब्यौरा मिलता है।[9] कत्यूरी अभिलेखों में वहां के अधिकांश शासकों के लिए परममाहेश्वर, परब्रह्मण्य शब्दों का प्रयोग मिलता है। इस प्रकार उपरोक्त सभी साक्ष्य उत्तराखण्ड में पाशुपत मत की पुष्टि करते हैं।

2. वैष्णव देवी-देवताओं की पूजन परंपरा

शैव धर्म के पश्चात उत्तराखण्ड का दूसरा प्रमुख धर्म वैष्णव धर्म है। साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि निर्धारित कालों में वैष्णव धर्म से संबंधित नर, नारायण, वीरणेश्वरस्वामी, वासुदेव, पांचरात्र, वामन आदि विष्णु के विभिन्न रूपों की पूजन परंपरा प्रचलित थी। महाभारत काल से ही नर-नारायण का संबंध उत्तराखण्ड से जोड़ा जाने लगा था। पाणिनी के समय पांचरात्र अथवा चतुर्व्यूह का अस्तित्व इस

पर्वतीय प्रदेश में था। शुंग युग में भी कृष्ण के साथ बलरान की पूजा के प्रमाण मिलते हैं। कुषाणकालीन विवरण में नारायण के उपासकों का प्रमुख तीर्थस्थल बदरिकाश्रम स्वीकार किया गया है। हर्षचरित के साक्ष्यों से भी उक्त मत की पुष्टि होती है। इन सब साक्ष्यों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि हमारे निर्धारित समय के पूर्व से ही बदरिकाश्रम वैष्णवों का परमस्थान बन चुका था और मनोनीत समय के अंत तक उसका वही स्थान बना रहा।[11]

कुणिंद काल की कुछ मुद्राओं पर भावगत शब्द का उत्कीर्ण होना[12] इस बात को प्रकट करता है कि कुंणिंद काल में भी समाज में वैष्णव धर्म के देवी-देवताओं की पूजन परंपरा मौजूद रही होगी। इसी प्रकार छठी-सातवीं शताब्दी के द्विजवर्मन के तालेश्वर ताम्रपत्र और कत्यूरी शासक सुभिक्षराज के पाण्डकेश्वर तामपत्र[13] से ज्ञात होता है कि उस काल में वीरणेश्वर स्वामी और श्रीनारायण को पूजने की परंपरा प्रचलित थी।

मंदिरों में जोशीमठ और पाण्डुकेश्वर के वासुदेव मंदिर उल्लेखनीय हैं। मूर्तियों में विष्णु की देवलगढ़ (गढ़वाल) और बदरीनाथ (गढ़वाल) की द्विभुजी मूर्ति और आदिबदरी (गढ़वाल) की चतुर्भुजी मूर्ति तथा विष्णु की शेषशयन मूर्तियों[14] का पाया जाना भी इस बात को सिद्ध करता है कि उत्तराखण्ड में वैष्णव धर्म की प्रतिष्ठा के फलस्वरूप विभिन्न वैष्णव देवी-देवताओं की पूजन परंपरा चली आ रही थी। साक्ष्यों के अनुसार तब बद्रीनाथ को वैष्णव धर्म का परम स्थान समझा जाता था। उत्तराखण्ड में राम, विष्णु, सीता, हनुमान, कृष्ण, लक्ष्मी आदि वैष्णव देवताओं के मंदिर तीसरी सदी के बाद के माने जाते हैं। विष्णु का लक्ष्मीनारायण रूप यहां सर्वाधिक प्रचलित रूप है।[15] वर्तमान में भी यहां विष्णु के सभी रूपों की पूजा होती है।

3. शाक्त देवी-देवताओं की पूजन परंपरा

शक्ति अथवा देवी की उपासना करने वाले शाक्त कहे जाते हैं। उत्तराखण्ड में प्राचीन काल से ही शाक्त उपासना के प्रमाण मिलते हैं। यहां प्राकृतिक शिला, काष्ठस्तंभ, प्रतिमा और यंत्र रूप में शक्ति के विविध रूपों की पूजा की जाती है। कालीमठ, बूढ़ा भरसार, उल्कादेवी और पाषाणदेवी में शक्ति के शिला रूपों में; सिमली, चांदपुर, अल्मोड़ा नैनीताल में नंदा-सुनंदा की स्तंभ रूप में; देवलगढ़, नौटी, हाटकाली, बुग्याली, घोल में श्रीयंत्र रूप में तथा दुर्गा, पार्वती, चण्डिका, वाराही, महिषमर्दिनी, उमा, गौरी आदि की प्रतिमा रूप में, संपूर्ण उत्तराखण्ड में पूजा परंपरा प्रचलित है।[16]

वाजसनेयी संहिता में उमा, पार्वती और दुर्गा का नाम मिलता है।[17] यहां देवी की प्रतिमाओं में दुर्गा का सिंहवाहिनी स्वरूप, महिषासुरमर्दिनी, बैजनाथ की प्रतिमा व जागेश्वर की चामुण्डा प्रतिमाएं प्रमुख हैं। विभिन्न विवरणों एवं साक्ष्यों में शक्ति को देवी या भगवती नंदा, हेमवती, चण्डिका, कालिका आदि नामों से भी पुकारा गया है। उत्तराखण्ड के प्रायः सभी शक्तिपीठों में पशुबलि दी जाती है। प्रमुख शक्तिपीठों में भैंसे की बलि का भी विधान है। देवी को अठ्वाड़ (अष्टबलि) भी दी जाती है, जिसमें सात बकरों और एक भैंसे का बलिदान दिया जाता है। मध्यकाल में देवी के काली (गंगोलीहाट), वाराही (देवीधूरा), चंद्रवदनी (टिहरी) रूपों को नरबलि दिए जाने का भी उल्लेख मिलता है। शाक्त सम्प्रदाय के पौराणिक देवी रूपों के अतिरिक्त उत्तराखण्ड में कई स्थानीय देवियों की शक्ति रूप में भी पूजा होती है। कहीं इनके मंदिर हैं, कहीं केवल पाषाण खण्ड या थान स्थापित हैं। शक्ति के इन स्थानीय रूपों में चंपा, झूमा, हिंगला, कोटनी, हिडिंबा, झालीमाली (चंपावत); मल्लिका, कोकिला, कोटगाड़ी, उल्का, गड़देवी (पिथौरागढ़), रणचूला, जाखनदेवी, नैथाणा, शीतला, स्याहीदेवी, वानरी देवी (अल्मोडा), रेणुका, राजराजेश्वरी, सुरकण्डा (गढ़वाल) आदि देवियां मुख्य हैं।[18] इस प्रकार उत्तराखण्ड में शक्ति के पार्वती, गिरिजा, हाटकाटी, कोटभ्रमारी, राजराजेश्वरी, ज्वाला,

कामख्या, जयंती, अंबिका, दुर्गा, उमा, गौरी, महाकाली, उल्का, चंडी, मनसा, नंदा, त्रिपुरसुंदरी, धारी, सुरकण्डा आदि विभिन्न रूपों के सैकड़ों मंदिरों का होना इस बात को सिद्ध करता है कि यहां प्राचीन काल से आज भी शक्ति की उपासना लोगों के धार्मिक जीवन का आधार है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि उत्तराखण्ड में शैव, वैष्णव और शाक्त धर्म के देवी-देवताओं की पूजन परंपरा प्राचीन काल से चली आ रही है और वर्तमान समय में इन मतों के देवी-देवताओं की पूजा-अर्चना यहां के निवासियों के धार्मिक जीवन का प्रमुख अंग है। शैव धर्म के देवी-देवताओं के रूप में शिव, गणेश, कार्तिकेय; वैष्णव धर्म के देवी-देवताओं के रूप में विष्णु, राम, सीता, हनुमान, कृष्ण। देवी के रूप में गौरा, पार्वती, दुर्गा, उमा, महाकाली, नंदा, चण्डिका आदि की पूजा-अर्चना यहां के निवासियों द्वारा मुख्य रूप से पूर्ण आस्था के साथ की जाती है।

संदर्भ

1. मध्य हिमालयी समाज, संस्कृति एवं पर्यावरण, डॉ. शेरसिंह बिष्ट, इण्डियन पब्लिशर्स डिस्ट्रीब्यूटर्स, दिल्ली, 2003, पृ. 49। **2.** उत्तराखण्ड की सामाजिक-धार्मिक दशाएं, सत्यप्रकाश, आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली, 1988 पृ. 106। **3.** वही, पृ. 107। **4.** वही, पृ. 107। **5.** वही पृ. 107। **6.** वही, पृ. 108। **7.** वही, पृ. 108। **8.** वही, पृ. 109। **9.** वही, पृ. 109। **10.** वही, पृ. 109। **11.** वही, पृ. 110। **12.** वही, पृ. 110। **13.** वही, पृ. 111। **14.** वही, पृ. 111। **15.** उत्तराखण्ड : लोक संस्कृति और साहित्य, देवसिंह पोखरिया नेशनल बुक ट्रस्ट इण्डिया, 2011, पृ. 75। **16.** वही, पृ. 76। **17.** उत्तराखण्ड की सामाजिक-धार्मिक दशाएं, सत्यप्रकाश, आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली, 1988, पृ.112। **18.** उत्तराखण्डः लोक संस्कृति और साहित्य, देवसिंह पोखरिया, नेशनल बुक ट्रस्ट इण्डिया, 2011, पृ. 76।

शोध छात्र हिंदी विभाग
एस.एस.जे. परिसर, अल्मोड़ा
(उत्तराखण्ड) 263601
मो. - 7351178355
ई-मेल : pawant2015@gmail.com

प्रतिस्वर

वैचारिकी का जनवरी-फरवरी-22 का अंक समृद्ध एवं श्रेष्ठ सामग्री के साथ मिला। विश्व हिन्दी दिवस पर बहुत ही उपयोगी एवम् ज्ञानवर्धक सामग्री का समावेश कर आपने इसे संग्रहणीय अंक बना दिया है। डॉ. विट्ठलदास मूंघड़ा का अध्यक्षीय लेख बहुत ही सुन्दर बना है। हिन्दी के विभिन्न उदाहरणों के साथ सामग्री का चयन उत्तम है। डॉ. बाबूलाल शर्मा के संपादकीय में अनेक ताजा समस्याओं का समाधान प्रस्तुत हुआ है। भाषाओं का विशाल भंडार देश की एक विशिष्ट पहचान है। एक राष्ट्रभाषा (हिन्दी) की राह में अनेक रोड़े हैं जिनका निराकरण राजनीति के कारण संभव नहीं लग रहा है। संपादकीय में भाषा की एकरूपता पर बहुत व्यापक रूप से लिखा गया है जिसकी आवश्यकता थी। इससे कई भ्रमों का समाधान हुआ है।

अन्य विद्वानों के लेख पठनीय हैं। आचार्य किशोरीदास बाजपेयी के दर्शन उनके कनखल आवास पर मैंने व पत्नी विभाजी ने किये थे। वर्षों पूर्व इसी समय व्याकरण पर चर्चा भी हुई थी। उन पर लेख सुंदर है। वैचारिकी नियमित है - विविध एवम् उपयोगी सामग्री दे रही है। बधाई।

डॉ. विनोद सोमानी 'हंस'
16 पर्थपउ जीवन बिहार कॉलोनी,
आनासागर सरक्यूलर रोड, अजमेर-4 (राज.)
मो. 9351090005

प्राणनाथ और निजानंद सम्प्रदाय

डॉ. मनीष गोहिल

जब भारतीय भक्ति साधना के रूप की बात में सर्वधर्म समन्वय की भावना की बात आती है, तो हमारे सामने प्राणनाथ का प्रणामी सम्प्रदाय मुख्य द्वार के रूप में उभरकर आता है। प्रणामी सम्प्रदाय के मूल प्रवर्तक श्रीदेवचन्द्र जी थे। लेकिन इसके प्रसार और प्रचार का श्रेय स्वामी प्राणनाथ को ही मिलता है। साहित्य और समाज में यह सम्प्रदाय कई नामों से अभिहित हुआ है। इस सम्प्रदाय को निजानंद सम्प्रदाय और प्रणामी सम्प्रदाय के अतिरिक्त धामी पंथ अथवा धामी सम्प्रदाय, मेहराज पंथ, चाकला पंथ, खिजड़ा पंथ, प्राणनाथी सम्प्रदाय, परनामी सम्प्रदाय, परिणामी सम्प्रदाय नाम से भी प्रसिद्धि मिली है।

बीतक साहित्य-पद्धति के अनुसार इस सम्प्रदाय का प्रारंभिक नाम 'निजानंद सम्प्रदाय' रहा है। स्वामी प्राणनाथ जी ने गुरु देवचन्द्र जी से तारतम्य ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात इस सम्प्रदाय का देश-विदेश में प्रचार-प्रसार करने में अपना बड़ा योगदान दिया। सम्भवतः माना जाता है कि प्रारंभ में इस सम्प्रदाय का कोई नाम नहीं रहा लेकिन देवचन्द्र जी और प्राणनाथ जी के अनुयायियों की संख्या बढ़ने पर इसका नामकरण हुआ होगा। 'समकालीन अवस्था में ही सौराष्ट्र-कच्छ और गुजरात में धामी, खिजड़ा और चाकला नाम प्रचार में रहे होंगे। मध्य भारत और बुंदेलखण्ड में इस सम्प्रदाय के प्रवेश करने के बाद ही प्रणामी सम्प्रदाय, निजानंदी सम्प्रदाय, प्राणनाथी सम्प्रदाय नाम विशेष रूप से प्रचार में रहे। इस सम्प्रदास के प्रमुख केन्द्र जामनगर (नौतनपुरी), सूरत (मंगोलपुरी) और पन्ना (पद्मावतीपुरी) है।[1]

सम्प्रदाय का प्रादुर्भाव

इस सम्प्रदाय के मूल में अमरातीत ब्रह्म श्री राज राजेश्वर श्रीकृष्ण रहे हैं। मान्यताएं ऐसी हैं कि परमधाम की ब्रह्मांगनाओं एवं अक्षर ब्रह्म को दुःख रूपी बाललीला देखने की इच्छा हुई। अतः पूर्ण ब्रह्म को नए ब्रह्माण्ड की रचना करनी पड़ी। क्षरब्रह्मांड की रचना हुई और उसमें ब्रह्म मण्डल की स्थापना की गई। गोलोकधाम में परब्रह्म ने श्रीकृष्ण के रूप में जन्म किया। काल माया के ब्रह्मांड में अखंड रास का खेल हुआ। ब्रह्मांगनाएँ अपने मूल धाम को भूल गई। श्रीकृष्ण ने अपनी योग शक्ति से तीसरे ब्रह्मांड की रचना की। काल माया के तीसरे ब्रह्मांड में ब्रह्मांगनाओं ने मनुष्य जन्म विविध जातियों में धारण किया और मोह-माया में परब्रह्म को भूल गई। उन्हें जागृत करने के लिए ही प्रणामी सम्प्रदाय के आदि गुरु देवचन्द्र जी का

अवतरण हुआ, ऐसी साम्प्रदायिक मान्यता है।

सम्प्रदाय में 'माहेश्वरतंत्र' (अ.40) के आधार पर एक कथा द्रष्टव्य है कि एक बार पार्वती जी ने शिव जी से पूछा तो उन्होंने बताया था कि दिव्य ब्रह्मपुर की वासना रूपी ब्रह्म शक्ति इस जगत में आएगी और उनमें से एक परम तेज स्वरूप सुन्दरी नामक परमात्मा की अत्यन्त प्रिय शक्ति मारवाड देश के उमर कोट नामक गाँव में किसी पवित्र कुल के परिवार में पुरुष-रूप धारण करेगी, चन्द्र (देवचन्द्र) नाम से अभिहित होगी। वही सबकी अशुभ गति जन्म-मरण आवागमन के मिटा देगी।

दिव्य ब्रह्मपुरस्येह ब्रह्माद्वैतस्य वासनाः।
तासामेका च परमा सुभगा सुन्दरी प्रियाः।।
मरुदेशे कुले शुद्धन रूपं सा धरिष्यति।
चन्द्र नामा पुलको हरिष्यत्याुभ गतिम् ।।

इसी संदर्भ में प्राणनाथजी ने कहा है -

कुंवरबाई माता का नाम, उत्तम कायस्थ उमरकोट ग्राम।

आर्य श्री देवचन्द्रजी नौतनपुरी, सुख सबों को देन देह धरी।।[2]

देवचन्द्र ने राजस्थान के उमरकोट ग्राम में कायस्थ परिवार में जन्म लिया और बचपन से ही धर्म भावना में लीन रहने लगे। राजस्थान छोड़कर कच्छ होते हुए जामनगर में वे सं. 1663 (सन् ई. 1606) में आए। यहाँ पर 14 वर्ष तक उन्होंने श्रीमद् भागवत का निष्ठापूर्ण श्रवण-मनन किया और जप भी किया। इसी दौरान जब अखण्ड ब्रजरास का वर्णन चलता था, तब उनकी तीव्र विरह-वेदना उत्पन्न होने से कृष्ण ने साक्षात दर्शन दिए और उन्हें तारतम्य मंत्र देकर अपनी और देवचन्द्र जी की पहचान सबको करा दी, ऐसी साम्प्रदायिक मान्यता है। यह प्रसंग सं. 1678 के आश्विन, इस 14वीं रविवार के दिन हुआ था।[3]

देवचन्द्र जी के प्रथम शिष्य गाँग जी थे। गाँग जी के कारण ही प्राणनाथ इनके संसर्ग में आए और इनकी सेवा करने लगे थे। आखिरकार देवचन्द्र जी ने प्राणनाथ को तारतम्य मंत्र दिया और भाद्रपद शुक्ल, 14 बुधवार, सं. 1712 को उनका धाम गमन हुआ। इसका उल्लेख नवरंग स्वामी के 'बीतक' में भी है-

नौतनपुरी बिहारी जी थाने, मध्य देस जी साहेब जाने।

संवत सतर बारोतरा में, विधि कही पधारे धामें।।

घर जाय वे गमे सही, षवर लेऊँन साथ की कही।

आसो मास सुकल पष लेवी, चतुरदषी बुधवारी पेषी।।[4]

प्राणनाथ और उनका जीवन-कवन

स्वामी प्राणनाथजी का समय सं. 1675 से 1751 वि. माना जाता है। प्रागनाथ जी जाति के क्षत्रिय और काठियावाड़ (सौराष्ट्र) निवासी थे। इनका जन्म संवत 1675 स्वीकार किया गया है।[5] साम्प्रदायिक ग्रन्थों एवं गुजराती के विवेचन ग्रंथों में इनका नाम मेहराज, श्रीजी, प्राणनाथ आदि मिलता है।[6] 'निजानंद चरितामृत' के आधार पर इनका जन्म नौतनपुरी (जामनगर) में संवत् 1675 आश्विन मास की (गुजराती भाद्रपद) कृष्णा चतुर्दशी रविवार के दिन हुआ था।[7] इनकी माता का नाम धनवाई तथा पिता का नाम केशव ठाकुर था। इनके पिता केशवरायजी जामनगर के प्रतिष्ठित दिवान थे। उनके पाँच पुत्रों में प्राणनाथ चतुर्थ थे। बारह वर्ष की अवस्था में अर्थात् संवत् 1687 के आसपास स्वामी श्रीदेवचन्द्रजी ने उन्हें तारतम्य की दीक्षा दी।[8]

प्राणनाथ जी विवाहित थे, पर इनकी पत्नी के नाम पर अलग-अलग मत देखने को मिलते हैं। डॉ. बडथ्वाल ने तो प्राणनाथ की पत्नी को कवयित्री माना है और 'पदावली' को इस दंपत्ति की संयुक्त रचना माना है।[9] संशोधन स्त्रोत के आधार पर प्राणनाथ - इन्द्रावती के संयुक्त नाम से कई रचनाएँ मिलती हैं। जो इन्द्रावती को उनकी पत्नी होने का भ्रम पैदा करती है। इस बात को लेकर डॉ. सावित्री सिन्हा ने तो निःसंकोच भाव से इन्द्रावती को उनकी पत्नी ही बता दिया है।[10] गुजराती साहित्य में इन्द्रावती के नाम से

कई रचनाएँ देखने को मिलती हैं, लेकिन कोई ठोस प्रमाण प्राप्त नहीं होता कि इन्द्रावती ही उनकी पत्नी है। इस भ्रम को सर्वप्रथम दूर करने का प्रयत्न काशी नागरी प्रचारिणी पत्रिका में किया गया है।[11] साम्प्रदायिक ग्रंथों के आधार पर प्राणनाथजी की दो पत्नियां थी - फूलवाई और तेजकुंवरि। एक अनुमान ऐसा भी लगाया जाता है कि प्राणनाथ जी ने स्वयं अलग-अलग नाम से रचनाएं की इसीलिए यह भ्रम पैदा हुआ। 'इन्द्रावती' तथा 'महामती' नाम स्वयं प्राणनाथजी का ही माना जाता है। यह बात धामी-सम्प्रदाय की पृष्ठभूमि के अध्ययन द्वारा स्वतः स्पष्ट हो जाती है। इन्द्रावती कह लो, चाहे 'महामती' कह लो या 'श्रीजी' कह लो, सभी नाम प्राणनाथ के ही हैं। इसकी पुष्टि प्राणनाथ जी के शिष्य मुकुन्ददास के ग्रंथ 'लीला प्रकाश' में मिल जाती है। उन्होंने कहा है -

तो तारतम सरूप श्री इन्द्रावती कही,
ये स्वरूप पंचमिलि महामति भई।
ये पंच स्वरूप को निरनय भयो,
सो श्रीजीये 'कलश' में कह्यो।।

प्राणनाथ जी जागणी अभियान

प्राणनाथ जी ने गुरु देवचंद्रजी के धामगमन पश्चात सम्प्रदाय के विकास के लिए जागणी जागृति अभियान किया। इनके परिश्रम स्वरूप प्रारंभ में कच्छ, सौराष्ट्र और गुजरात में इस सम्प्रदाय को जन-समाज में प्रतिष्ठा मिली तथा कई अनुयायी हुए। जागणी अभियान के दौरान इन्होंने दीप बंदर, ठठ्ठा, मस्कत, मस्बास, सिंध, लाठी, लतिया, अबासी आदि अनेक द्वीपों तथा नगरों की यात्राएं की। देश-भ्रमण तथा सत्संग के कारण इन्हें अरबी, फारसी, संस्कृत तथा हिंदी का ज्ञान सहज ही प्राप्त हो गया था।

प्राणनाथजी ने सम्प्रदाय को समन्वयवादी दृष्टि प्रदान की। इन्होंने वेद, कुरान, इंजील, तौरेत आदि अनेक धर्म ग्रंथों का अध्ययन कर जो ज्ञान और उपदेश दिया उसमें यही दृष्टि देखने को मिलती है। कबीर एवं नानक आदि की दृष्टि तो केवल हिंदू और मुसलमानों के धार्मिक मतभेदों को ही भेद सकी थी, परन्तु स्वामी प्राणनाथ की दृष्टि समस्त धर्मों (ईसाई, यहूदी, पारसी आदि) के वाद-विवादों को मिटाती हुई सर्वधर्म समन्वय की ओर अग्रसर हो सकी थी। वे अपने समय के सबसे बड़े समन्वयवादी नेता थे।[12]

प्राणनाथ जी का जागणी अभियान का सबसे बड़ा और प्रभावशाली कार्य रहा, हरिद्वार में सर्वधर्म परिषद् का आयोजन। यह परिषद संवत् 1735 में कुंभ मेले में हुई थी। इस सर्वधर्म परिषद् में प्राणनाथकी ने जो उपदेश दिया वह उनके समन्वयात्मक भाव को जाहिर करता है। संवत् 1730 में प्राणनाथ सूरत पधारे थे। सूरत में इन्होंने प्रणामी गद्दी की स्थापना की। तत्पश्चात संवत् 1740 में प्राणनाथजी पन्ना (बुंदेलखंड) पधारे। यहाँ पर बुंदेलखंड के महाराज छत्रसाल इनके परम शिष्य बन गये। ऐसा कहा जाता है कि इन्हें स्वामी प्राणनाथ ने पन्ना के निकट हीरे की खान का पता बताया था। स्वामी प्राणनाथ ने छत्रसाल को आशीर्वाद में एक पद लिखकर दिया था -

छत्ता तेरे राज में धक-धक धरती होय।
जित-जित घोड़ा मुख करे तित-तित फत्ते होय।।

बुंदेलखंड में महाराज छत्रसाल ने गुरु प्राणनाथ की असीम प्रेरणा प्राप्त कर प्रणामी सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा को और बढ़ाया। यहां पर गुरु प्राणनाथजी ने बुंदेलखंड के बुन्देलों में न सिर्फ धार्मिक प्रेरणा जगाई बल्कि राजनीतिक और आर्थिक चेतना को उत्बुद्ध करने में सहायक हुए। राष्ट्रीयता के प्रतीक छत्रसाल के गुरु, सहायक के रूप में एकमात्र प्राणनाथ थे।[13] प्राणनाथ जी के प्रमुख शिष्यों में लालदासजी, केसोदास, छत्रसाल और मुकुन्ददास अर्थात् नवरंग स्वामी रहे हैं। प्राणनाथ जी ने जागणी अभियान के लिए जामनगर की गद्दी बिहारी जी को सौंप दी थी।

प्राणनाथ जी एक कवि के रूप में

आज निजानंद सम्प्रदाय स्वामी प्राणनाथ को सर्वस्व मानता है और परमधाम में बिराजमान धणी (स्वामी) के रूप में स्वीकार भी करता है। स्वामी

प्राणनाथ के संत रूप को उजागर करने में उनका कवि रूप ही प्रधान रहा है। स्वामी प्राणनाथजी ने अलग-अलग समय में रचनाएं की। जिसको एक साथ करवाया महाराजा छत्रसाल ने। महाराजा छत्रसाल ने प्राणनाथजी के सुयोग्य शिष्य लालदासजी से बीतक-ग्रंथ लिखवाया। इसी प्रकार स्वामी जी के अन्य शिष्य केशवदासजी ने छत्रसाल जी की प्रेरणा से ही स्वामी प्राणनाथ की रचनाएं, जो अब तक प्रकीर्ण रूप में थी उन्हें 'श्रीमतारतम्य सागर' के रूप में संकलित की। यह भगीरथ कार्य संवत् 1751 आश्विन कृष्णा चतुर्दशी को सम्पन्न हुआ। इसमें स्वामी प्राणनाम के इन ग्रंथों का संकलन किया गया है।

1. रास 2. प्रकाश 3. षड्ऋतु 4. कलश (गुजराती) 5. कलश (हिंदी) 6. सनंध 7. कीर्तन (किरन्तन) 8. खुलासा 9. खिलवत 10. परिक्रमा 11. सागर 12. शृंगार 13. सिन्धी 14. मारफत सागर 15. कयामतनामा 16. कयामतनामा (बड़ा)।

इनमें से रास, प्रकाश, षड्ऋतु और कलश गुजराती भाषा में रचित हैं, शेष सभी हिंदी में हैं। प्राणनाथ का साहित्य दो भागों में विभक्त है -

(1) 'शेषवाणी' - यथा कुरान के सवाल-जवाब, शेख मीरांजी का संवाद, तीसरा कयामतनामा, कुरान की पत्रिकाएँ, जामिलमारफत, छत्रसाल प्रबोध आदि। (2) 'बेहोशवाणी'- यथा 'श्रीमुखवाणी' की समस्त रचनाएँ। अखिल प्रणामी समाज श्रीमुखवाणी की पूजा करता है और प्रणामी पंथ तथा धर्म की सम्पति के रूप में इसकी रक्षा भी। यही 'कुलजम स्वरूप' अथवा 'कलजमे शरीफ' के नाम से प्रसिद्ध है।

स्वामी प्राणनाथ ने हिन्दुस्तानी भाषा में ही लिखा है। उनका मानना था कि -

बिना हिसाबे बोलियां भिने सकल जहान।

सबको सुगम जानके कहूंगी हिन्दुस्तान।। (सनंघ पृ.1-15)।

इनके कई पद जो महामति तथा इन्द्रावती के नाम से लिखे गये हैं, उनमें से एक द्रष्टव्य है -

खोज थके सब खेल खसम री

मनही में मन है उरझाना, हौत न काहू गम री।

मन ही बाँधे मन ही खोले, मन तम मनहि उजास री।

ये खेल है सकल मन का, नेहचल मनहिं को नास री।।

सब मन में न कछु मन में, खाली मन मनही में ब्रह्म,

महामति मन को साई देखे, जिन दृष्टे खुद खसम।।[14]

स्वामी प्राणनाथ की रचनाओं में संगीतात्मकता का पुट पूर्ण रूप में देखने को मिलता है। उन्होंने अपने पदों को छंदों में बाँधने का प्रयत्न कभी नहीं किया है। इसके बारे में उन्होंने स्वयं कहा है कि 'अक्षर और मात्राओं की लघु और दीर्घता का ध्यान रखना तो केवल कवियों का खिलवाड़ है, इसे मैं अच्छी तरह जानता हूँ किन्तु यह मेरी इस परम आध्यात्मिक वाणी में शोभा नहीं देता।'[15] फिर भी इनकी कई रचनाओं में भाषा एवं रस लालित्य द्रष्टव्य है।

प्राणनाथ जी ने जागणी के दौरान हिंदी भाषा के प्रसार- प्रचार में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया, इसमें संदेह नहीं। स्वामी प्राणनाथ ने ही हिंदी गद्य का प्रयोग कर अपनी भाषा को सर्वप्रथम 'हिन्दुस्तानी' के नाम से अभिहित किया था। इनकी भाषा वस्तुतः मध्यकाल की वह हिंदी अथवा हिन्दुस्तानी है जिसे आधुनिक खड़ी बोली का आदि रूप कहा जा सकता है।

वर्तमान में प्राणनाथजी के 'कुलजम स्वरूप' को निजानंद सम्प्रदाय के सत्संगी (सुंदरसाथ) बड़ी भक्ति भावना के साथ इसे पूजा-पाठ में रखते हैं। यही ग्रंथ आज पूर्ण ब्रह्म अमरातीत सच्चिदानंद स्वरूप परमात्मा की श्रीमुख वाणी माना जा रहा है और इसी ग्रंथ को बिराजित करके इसकी पूजा की जाती है। ऐसा ही पूजन सिक्ख समुदाय भी करता है। वे लोग 'गुरु ग्रंथ साहिब' की पूजा करते हैं।

कुलजम स्वरूप ग्रंथ को आज 'तारतम सागर' भी कहा जाता है। क्योंकि इसमें तारतम का रहस्य खोलते हुए कहा गया है -

तारतम बातें वतन की, जिन किया तिमिर सब नास।

इस ग्रंथ में लगभग 18000 (अठारह हजार) चौपाइयाँ हैं।[16] इस ग्रंथ से कुछ पद द्रष्टव्य है -

हिरदे बैठ वचन कहे ए, कारण साथ किए सनेह।

अदृषु होए के कहे वचन, साथ जी दृढ़ कर ली जो मन।।[17] (प्रक.ग्र.)

'तार' चिद्घन शब्द है, जब मिला 'तम' से आए।

धरयो नाम तारतम, जो भेद भाषा को पाए।।

तारतम तेज प्रकाश की, जब चहु दिस किरण फैलाए।

जगत शून्य निराकार तम, देसी सबे उडाए।।

मिथ्या मार्ग धर्म मेट के, भाये धर्म अखंड।

तारतम निज बुध लेय के, पसरे बीच ब्रह्मांड।।[18]

एक समय जब 'श्रीमुखवाणी' को प्रकाशित नहीं किया जाता था। परिणामतः स्वामी प्राणनाथ जी द्वारा दिया गया साहित्य हिंदी साहित्य में पूर्ण रूप में उपलब्ध नहीं था। लेकिन अब यह उपलब्ध है। क्योंकि वर्तमान में इस सम्प्रदाय में अलग-अलग भेद पड़ गए हैं। आज 'प्रणामी सम्प्रदाय' के साथ-साथ इसी का एक नाम 'निजानंद सम्प्रदाय' अस्तित्व में आ चुका है। इस सम्प्रदाय के अनुयायिओं ने प्राणनाथ जी द्वारा रचित साहित्य को सुंदरसाथ तथा सबके लिए प्रकाशित किया है। यह एक सराहनीय और समाजोपयोगी कार्य माना जाएगा। स्वामी प्राणनाथ ने तो संसार को जागृत करने और तत्कालीन परिस्थितियों को देखते हुए पदों की रचना की है। यथा -

नाम सारों जुदे धरे, लई सबों जुदी रसम।

सबमें उमत मौर दुनियाँ, सोई खुदा सोई ब्रह्म।।

ताथें हुई बड़ी उरझन, सो सुरझाऊँ दोए।

नाम निसान जाहेर करूँ, ज्यों समझे सब कोए।।

(खुलासा 12/38,44)

संवत् 1735 में हरिद्वार में आयोजित कुंभ मेले में स्वामी प्राणनाथ जी ने सर्वधर्म परिषद में जो उपदेश दिया वह उनके समन्वयात्मक भाव को ही प्रकट करता है। उन्होंने कहा था-

सतगुरु ब्रह्मानंद है, सूत्र है अक्षर रूप।

सिखा सदा तिन से परे, चेतन चिद् जो अनूप।।

सेवन है पुरुषोत्तम, गोत्र चिदानंद जान।

परम किसोरी इस्ट है, पतिव्रता साधन मान।।

दिव्य ब्रह्मपुर धाम है, घर अक्षरातीत निवास।

निजानन्द है सम्पदा, ए उत्तर प्रस्न प्रकास।।

श्री देवचंद्रजी निजानन्द, जिन प्रगट करी सम्प्रदा एए।

तिन थें हम यह लखी हैं, द्वार पावें अब तेए।।[19]

स्वामी प्राणनाथ कवि के रूप में सफल तो हैं ही पर साथ- साथ जागणी प्रचारक तथा धर्म (सम्प्रदाय) प्रचारक के रूप में भी जागृत रहे। उन्होंने स्वामी देवचन्द्रजी द्वारा जो तारतम मंत्र ग्रहण किया था, वह आज सम्प्रदाय के सारे सुंदरसाथ का प्राणमंत्र बन गया है।

धामी अथवा प्रणामी सम्प्रदाय के लोग इस तारतम मंत्र को मात्र-मात्र अपने अनुयायिओं, जिसे सुंदरसाथ भी कहते हैं को कान में कहते थे। इसी सम्प्रदाय का एक भाग निजानन्द सम्प्रदाय ने इस मंत्र को सबके लिए प्रकाशित करवाया है। इस मंत्र की पंक्तियां हैं -

निजनाम श्रीजी साहेब जी, अनादि अक्षरातीत।

सो तो अब जाहेर भए, सब विध वतन सहीत।।

श्री श्यामाजी वर सत्य हैं, सदा सत सुख के दातार।

विनती एक जो बल्लभा, मो मंगना की अविधार।।

- - - - - -

जब ए मुख अंग में आपडी, तब छूट जाए विकार।

आयो आनंद अखंड घर को, श्री अक्षरातीत भरतार।।[20]

साहित्यिक दृष्टि से विचार किया जाए तो, अब स्वामी प्राणनाथ द्वारा रचित समग्र साहित्य उपलब्ध है। अभी तक जो भी सामग्री उपलब्ध हो रही थी वह अपर्याप्त अथवा अधूरी मिलती थी। जिससे मध्यकालीन संत परंपरा एक अमूल्य भाग छूटता नजर आता था। स्वामी प्राणनाथ एक सिद्ध हस्त रचनाकार हैं, यह हम इनके इस रूप को देखकर कह सकते हैं।

सम्प्रदाय का प्रसार

स्वामी प्राणनाथ के अथक परिश्रम से सम्प्रदाय का विकास- फैलाव दूर-दूर के प्रदेशों तक हुआ। अलग-अलग द्वीप खण्डों के साथ-साथ प्राणनाथजी के परमधाम गमन पश्चात् उनके शिष्यों ने नेपाल, दार्जिलिंग, गोहाटी, सिलीगुड़ी, काशी, प्रयाग, पंजाब, बघेलखण्ड, कानपुर, बिहार, आसाम, दिल्ली आदि प्रदेशों में सम्प्रदाय का प्रचार-प्रसार किया।

स्वामी प्राणनाथ अपने समय से बहुत आगे थे। सांस्कृतिक दृष्टि से प्रणामी सम्प्रदाय और प्राणनाथ का स्थान भारतीय समाज में महत्वपूर्ण माना जाना चाहिए। सम्प्रदाय के विकास में एक समय ऐसा भी आया कि सम्प्रदाय का विकास मंद पड़ गया। शायद इसके अति उदारमतवादी दृष्टिकोण तथा जाति-पाति, छुआछूत, मूर्तिपूजा आदि के विरोध भाव को उस समय का संकीर्ण हिंदू समाज समझ न पाया हो या यह भी संभव है कि इस सम्प्रदाय ने हस्तलिखित ग्रंथों को प्रकाश में लाने की कोशिश नहीं की और वासना सम्बन्धी साम्प्रदायिक मान्यता के प्रति लोगों में श्रद्धा न जगी हो। बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में एक विवाद गुजरात में जगा कि प्राणनाथ के स्थान पर गुरु देवचन्द्र जी को और बिहारी जी को ही पूज्य मानना चाहिए और इस प्रकार मानने वाले लोगों ने 'निजानंद मण्डली' या 'देवचन्द्र जी सत्संग मण्डली' की स्थापना भी की थी। वैसे पन्ना के मंदिर में कलश के स्थान पर पंजा होने के कारण तथा वहाँ प्रणामी संप्रदाय के अनुयायी को मृत्यु के बाद समाधि दी जाती थी, इसलिए इस सम्प्रदाय को इस्लाम धर्म का सम्प्रदाय होने का भ्रम फैलाया गया था।[22] इन भ्रमों के फलस्वरूप ही ई. सन् 1880 और 1908 में नेपाल से इस सम्प्रदाय को निर्वासित कर देने का हुक्म किया गया था।[23]

वर्तमान सन्दर्भ में देखें तो स्वामी प्राणनाथजी के जागणी अभियान का परिश्रम यह रहा है, कि अब प्रणामी सम्प्रदाय ने भारतीय जन समाज में एक विशेष पहचान बना ली है। आज यह सम्प्रदाय अलग-अलग शाखाओं में विभक्त हो गया है। प्रणामी सम्प्रदाय जो अक्षरातीत ब्रह्म श्री राज राजेश्वर श्रीकृष्ण को ही अपना आराध्य मानता है। जबकि निजानंद सम्प्रदाय अक्षरातीत पारब्रह्म के रूप में प्राणनाथजी को मानता हैं, जिन्हें श्री विजयाभिनंद बुद्ध निस्कलंक अवतार, भाखरुल जमा इमाम महेंदी तथा सेकेंड क्राइस्ट माना गया है।[24] अभी तक सम्प्रदाय की जामनगर (नौतनपुरी), सूरत (मंगोलपुरी) और पन्ना (पद्मावतीपुरी) मुख्य पीठिकाएं मानी जाती थी, अब इसमें एक और खतौली (रतनपुरी, जि. मुज्जरफ़रनगर) का समावेश हुआ है।

आज गुजरात में इस सम्प्रदाय की दोनों शाखाएं अपने अपने मत तथा विचार दृष्टि से सम्प्रदाय के जागणी अभियान को चला रही हैं। निजानंद सम्प्रदाय की विचार दृष्टि श्री प्राणनाथ जी को ही सर्वस्व स्वीकार करती है और उनके द्वारा रचित समग्र साहित्य के मूल भाव को उनका स्वयं का ही परिचय मानती है ऐसा प्रतीत होता है। निजानंद सम्प्रदाय ने गुजरात में कई गाँवों, कस्बों, शहर आदि में अपने आश्रमों की स्थापना कर इसका प्रचार-प्रसार वेगवंत बनाया है। गुजरात में बड़ौदा में इनका मुख्य आश्रम है।

मूल रूप में देखें तो निजानंद सम्प्रदाय की विचार-सरणी एकेश्वरवाद को मानने की रही है। प्राणनाथ

जी ने 'कुलजम स्वरूप' में सभी धर्मों को लेकर चर्चा कर मूल एकेश्वरवाद को ही प्रधानता देने का प्रयास किया था। उन्होंने कुरान, बाइबल आदि का अभ्यास किया था। प्राणनाथ जी के शिष्य श्री लालदास जी लिखित श्री बीतक साहिब में प्राणनाथजी के जीवन चरित्र तथा उनके उदारतम विचारों का परिचय देखने को मिलता है। इस ग्रंथ का यह पद सम्प्रदाय के एकेश्वरवाद को ही उद्घाटित करता है -

विरोध सारी विस्व का, भागत इन बीतक।
सबको पहिचान होवहीं, पहुँचे कदमों हक।।
(श्री बीतक साहिब 12/11)

अर्थात् श्रीमुख बीतक साहिब के सत्य ज्ञान के जाहिर हो जाने पर सम्पूर्ण विश्व के मत-मतान्तरों के झगड़े मिट जायेंगे तथा सब को एक अक्षरातीत, पूर्ण ब्रह्म, सच्चिदानंद, अल्लाह तआला, Supreme Truth God, श्री जी साहिब जी की पूर्ण पहचान हो जायेगी।[25]

पूजा पद्धति

सम्प्रदाय में 'कुलजम स्वरूप' को विराजमान किया जाता है और इसकी श्रद्धावत पूजा की जाती है। सम्प्रदाय के अनुयायी (सुंदर साथ) 'कुलजम स्वरूप' को ही 'श्रीमुखवाणी' तथा 'तारतम सागर' भी कहते हैं। लेकिन आज प्रणामी सम्प्रदाय और निजानंद सम्प्रदाय के वैचारिक मतभेद के कारण दोनों सम्प्रदाय की पूजा पद्धति में भी भेद देखने को मिलता है। प्रणामी सम्प्रदाय में कुलजम स्वरूप की पूजा के साथ-साथ अक्षरातीत ब्रह्म श्री राज श्यामा जी के रूप में भगवान श्री कृष्ण को मानकर उनके वस्त्र (वागा), वल्कल, मुरली आदि को प्रतीकात्मक रूप में पूजा जाता है। जबकि निजानंद सम्प्रदाय माननेवाला सुंदरसाथ कुलजम स्वरूप की पूजा के साथ-साथ अक्षरातीत पारब्रह्म के रूप में श्रीजी साहेब जी अर्थात् प्राणनाथ जी को ही सर्वस्व स्वीकार करता है। निजानंदी मत प्रभु प्राणनाथ जी को ही श्री विजयाभिनंद बुद्ध निष्कलंक अवतार के रूप में स्वीकार करता है। सम्प्रदाय के सुंदरसाथ (दोनों शाखा के) जब भी एक दूसरे को मिलते हैं, तो विधिवत दोनों हाथ जोड़कर या झुककर 'प्रणाम' अथवा 'प्रणाम जी' संबोधित करते हैं।

अंत में एक विचार फलक पर दृष्टिपात करें तो स्वामी प्राणनाथ ने अपने गुरु श्री देवचन्द्रजी के आशीर्वाद से जिस सम्प्रदाय को जागणी अभियान द्वारा प्रसारित किया था वह आज भी प्रसारित और प्रचारित हो रहा है। आज इसमें आमूलचूल परिवर्तन आया है और इस परिवर्तन का अंतिम स्वरूप सम्प्रदाय का विभक्त रूप कहा जा सकता है। फिर भी सुखद आश्चर्य यह है कि सम्प्रदाय की दोनों शाखाएँ अपने-अपने वैचारिक दृष्टिकोण द्वारा सम्प्रदाय का प्रसार-प्रचार कर रही हैं तथा साथ ही साथ समाजोपयोगी सेवा कार्य को भी प्रधानता दे रही हैं। वर्तमान में सम्प्रदाय के अनुयायियों की संख्या में उत्तरोत्तर प्रगति हो रही है। सम्पूर्ण भारत वर्ष के साथ-साथ यु.एस.ए., यु.के, ऑस्ट्रेलिया आदि देशों में भी इसकी जड़ें मजबूत हो रही हैं।

भारतीय परिवेश में जहाँ अनगिनत सम्प्रदायों का प्रादुर्भाव हुआ है और हो रहा है, ऐसे प्रवाहमयी वातावरण में प्रणामी निजानंद सम्प्रदाय और प्राणनाथ का स्थान सांस्कृतिक एवं धार्मिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

संदर्भ

1. डॉ. नरेश पंड्या ; हिंदी भाषा और साहित्य के विकास में गुजरात का योगदान, पृ. 200। **2.** प्राणनाथ; कुलजम स्वरूप प्रकाश प्र. 37, चौ. 62। **3.** वही पृ. 48-49। **4.** नवरंगजी कृत बीतक, प्र. 12, चौ. 28-29। **5.** डॉ. पीताम्बर दत्त बडथ्वाल; हिंदी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, पृ. 133। **6.** डॉ. रामकुमार गुप्त, गुजरात के संतों की हिंदी साहित्य को देन, पृ. 128। **7.** निजानंद-चरितामृत, पृ. 269। **8.** डॉ. रामकुमार गुप्त, गुजरात के संतों की हिंदी साहित्य को देन, पृ. 128। **9.** डॉ. पीताम्बर दत्त बडथ्वाल; हिंदी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, पृ. 133। **10.** मध्यकालीन हिंदी कवयित्रियाँ, पृ. 83। **11.** प्राचीन

हस्त लिखित ग्रंथों की खोज - नागरी प्रचारिणी पत्रिका, संवत् 2008 वर्ष 56, पृ. 21। **12.** डॉ. रामकुमार गुप्त, गुजरात के संतों की हिंदी साहित्य को देन, पृ. 131। **13.** प्रो. माताबदल जायसवाल, दूसरा प्रणाम, पृ. 9। **14.** संतवाणी अंक (कल्याण) वर्ष 29, संवत् 2011, पृ. 377। **15.** प्राणनाथ; रास, पृ. 2-3। **16.** गुलजारीलाल सिडाना जी, श्री मुखवाणी - कुलजम स्वरूप सार संग्रह, पृ. 1। **17.** वहीं, पृ. 1। **18.** वही, पृ. 16। **19.** श्री निजानंद आश्रम, सेवा पूजा, पृ. 11। **20.** वही पृ. 9-10। **21.** मिस्त्री राम जी भोला, श्री प्रणामी धर्म प्रकाशन पुस्तक ने उत्तर अरजी, भा-2 (गुजराती-1925) पृ. 4,5। **22.** डॉ. भगवानदास गुप्त, महाराज छत्रसाल बुन्देला, पृ. 111। **23.** Panna Gazetteer, PP. 37-38.। **24.** श्री जगदीशचंद्र जी, श्री निजानंद दर्शन, पृ. 9। **25.** श्री लालजीदास जी कृत श्री बीतक साहिब, पुष्पांजलि। प्राणनाथ; रास, पृ. 2-3। **16.** गुलजारीलाल सिडाना जी, श्री मुखवाणी - कुलजम स्वरूप सार संग्रह, पृ. 1। **17.** वहीं, पृ. 1। **18.** वही, पृ. 16। **19.** श्री निजानंद आश्रम, सेवा पूजा, पृ. 11। **20.** वही पृ. 9-10। **21.** मिस्त्री राम जी भोला, श्री प्रणामी धर्म प्रकाशन पुस्तक ने उत्तर अरजी, भा-2 (गुजराती-1925) पृ. 4,5। **22.** डॉ. भगवानदास गुप्त, महाराज छत्रसाल बुन्देला, पृ. 111। **23.** Panna Gazetteer, PP. 37-38.। **24.** श्री जगदीशचंद्र जी, श्री निजानंद दर्शन, पृ. 9। **25.** श्री लालजीदास जी कृत श्री बीतक साहिब, पुष्पांजलि।

8, सुंदरम् बंग्लो (नजदीक आनंद निकेतन स्कूल), रामदेवनगर, सेटेलाइट, अहमदाबाद-380 015 (गुजरात)

●

"वैचारिकी" पत्रिका के स्वामित्व आदि की घोषणा
(प्रपत्र 4 - नियम 8)

1. प्रकाशन का स्थान	:	भारतीय विद्या मंदिर 12/1 नेली सेनगुप्ता सरणी, कोलकाता-700087
2. प्रकाशन की आवृत्ति	:	द्वैमासिक
3. मुद्रक - प्रकाशक	:	नाम - शंकरलाल सोमानी, राष्ट्रीयता - भारतीय
	:	पता - सचिव, भारतीय विद्या मंदिर 12/1 नेली सेनगुप्ता सरणी, कोलकाता-700087
4. संपादक	:	नाम - डॉ. बाबूलाल शर्मा, राष्ट्रीयता -भारतीय
5. उन व्यक्तियों, संस्थाओं आदि के नाम जो पत्र के स्वामी और साझेदार हैं अथवा कुल पूंजी के एक प्रतिशत से अधिक के अंशधारक हैं।	:	भारतीय विद्या मंदिर, कोलकाता

मैं शंकरलाल सोमानी एतद् द्वारा घोषित करता हूँ कि ऊपर दिया गया विवरण मेरी जानकारी व विश्वास के अनुसार सही है।

ह. शंकरलाल सोमानी
सचिव - भारतीय विद्या मंदिर
12/1 नेली सेनगुप्ता सरणी,
कोलकाता-700087

31 मार्च 2022

चाँद सम्बन्धी विचित्र मान्यतायें और वास्तविकताएं

डॉ. शिवनन्दन कपूर

चाँद चमत्कारी है। चित्त को चुम्बक-सा खींचता है। चर्चित है, और युग-युग से अर्चित है। वैसे तो सारा विश्व चंद्र शाला है - चाँदनी की चमक से चिर दमकता। भारत में विशेष मान्यता है। इसी से यह देश 'चन्द्र शुक्ल' कहाया। इसीलिये देवाधिदेव ने इसे 'सर चढ़ाया।' 'चन्द्रिल' और 'शशिशेखर' की ख्याति पाई। फिर तो कार्तिकेय को भी उन्होंने 'चन्द्रानन' पुकारना प्रारम्भ किया। यह देख धरा के ऊसर सर भी 'चाँद' दिखाने लगे। यहीं मैया लाल के भाल पर 'डिठौना' लगाती है। कहीं चंद्र मुख को 'डीठ' न लगे। चितवन से चित चुराने वाली चन्द्र-मुखियां चूनर में चेहरा दुबकाने लगीं। वे तो चन्द्र लोक तक जाना चाहती हैं। सुधा से सौन्दर्य सरसायेंगी। इसीलिये चन्द्र या चान्द्रायण व्रत रखती हैं। चलनी से चाँद निहारती हैं। इस देश में चाँद युग-युग से चर्चित है, अर्चित भी। गगन में उड़ता 'पक्षजन्मा' कहाता है।

वैसे तो सारा विश्व चन्द्रशाला है। हर दिशा में उसका उजाला है। पर यहाँ उसका प्रभाव अधिक है। चाँद से जुड़ उजली चाँदी 'चन्द्र लोहक' कहाती है। कविता में 'चन्द्रलेखा' तथा 'चन्द्रवर्त्म' जैसे छन्द चमके। उजले कपोल श्यामल तिल भी भाता, लुभाता है। काला है, पर चन्द्राकार है। अतः 'चन्द्रक' कहा जाता है। पुच्छ पर चाँद से चिह्न सजाये मयूर भी 'चंद्रकी' हो गया। इसी देश में, कामरूप में, चन्द्रकूट है, और चन्द्रगिरि भी विद्यमान है। चन्द्रचूड़ की नगरी काशी में 'अमृतोद' कूप चन्द्र ने बनवाया था। वहीं चन्द्रेश्वर की प्रतिष्ठा भी की। वृन्दावन में भी संकर्षण कुण्ड के समीप चन्द्र सरोवर है। भारत में ही चन्द्रकोटि तीर्थ स्थित है। गगन में धवल बलाका-मण्डल उज्ज्वल माला से उड़ते हैं। उन्हें भी 'चन्द्र- विहंगम' कहा जाने लगा। जल में उज्ज्वल जगमगाती, सरसराती 'चन्द्र चंचला' मछली भी तो है। चन्द्र अपनी किरनों सा सर्वत्र छाया है। चाँद शीतल है। छोटी इलाइची शीत गुण वाली है। अतः उसे 'चन्द्र-सम्भवा' मान लिया गया। शिव जी का 'घोर' रूप अग्निमय माना जाता है। उस तपन की शान्ति के लिये ही तो शशि को शिरोधार्य किया। चोर और चाँद विरोधी हैं। पर चतुर साहित्य-चोर चाव से 'चन्द्र-रेणु' कहे जाते हैं।

प्रिय, पति, पापा, मामा

पाश्चात्य नक्षत्र-विचारक मानते हैं, पानीदार चन्द्र हरे पनीर से बना है। तभी ताजगी है, तरावट है, तासीर है। इसीलिये लुनाई वाली लुगाइयों के लावण्य और लुभान की तुलना चाँद

से की जाती है। कितनी चन्द्र-यात्रायें हुई और होंगी पर जन-विश्वास अचल है। चाँद में डोकरी का पुराना चर्खा साबूत ही नहीं है, चल रहा है। कल्पनायें भी मचल, चल रही हैं। श्री अजित कुमार ने कभी लिखा था -

'चाँद है उस रुपये सा, जिसमें चमक है, पर ठनक गायब।'

पश्चिमी जन-आस्था तथा लोक गीतों में शशि जनन- क्षमता का प्रतीक है। इसीलिये तो 'हनीमून' के लिये लोग यात्रायें करते हैं। जहाँ मधु टपके, वहाँ लपके। ग्रीनलैण्ड की अनुश्रुति के अनुसार, चन्द्र नर है। वामा का वर नहीं, उतान सोती कामुक कामिनी के निकट मादक मयंक ही आता है। न्यूजीलैण्ड के भाबरी तो और बढ़ कर हैं। उनका विश्वास है, धरती पर होने वाला गठ-बन्धन तो फसली है, दिखावटी है। वास्तविक पति तो चन्द्रमा ही है। एरेटिक लैण्ड की कुमारियाँ तो चाँद की और निहारने का भी साहस नहीं कर पाती। कोई निहोरा करे, फिर भी। भले वह मोहक, मादक लग रहा हो। भय है, कहीं निरखते पाँव भारी हो गये तो अनचाहे, अनजाने कलंक का बोझ ढोना होगा। उत्तर-पश्चिमी फ्रांस के प्रेटन किसानों की मान्यता और विलक्षण है। तदनुसार जो चंचला चाँदनी के उजाले में देह, अनढकी रखती है, उसके उदर से दैत्य ही जनमते हैं। रसिक चाँद की रसमय रश्मियों का प्रभाव विलक्षण है। इसीलिये सलाम 'मछ्लीशहरी' ने सतर्क करते लिखा था -

'तुम खुली छत पे शबे माह में जाया न करो।
रात में चन्द फरिश्ते भी फिरा करते हैं।'

संसार में कुछ बच्चे 'सुखमुखिया' जनमते हैं। इतने गोरे, जैसे दोपहर की धूप खिल रही हो। दिलजले उसे 'कोढ़िया' रंग कह देते हैं। बोर्नियो की जन-जाति का मानना है, ऐसा चन्द्रमा के प्रभाव से होता है। वे नारी के गर्भधारण की अवधि 21 दिनों के चन्द्र-चक्र से मानते हैं। पशुओं के गर्भाधन पर भी उसका प्रभाव बताते हैं। प्राचीन मिस्र का पावन वृषभ एक गाय के चन्द्र-किरणों के संसर्ग में आने से पैदा हुआ था। कई स्थानों पर किसान विशेष चन्द्र-तिथि पर ही बीज बोते हैं। चन्द्र में प्रजनन क्षमता मानव तथा मानवेतर सभी के लिये है। वह 'औषधियों का पति' कहा ही गया है। भारत में 'पाराशर स्मृति' में कहा गया है, 'सोम रोमवती होते ही, कन्या का उपभोग करता है,' 'रोमकाले तु मंप्राप्ते सोमो भुंजीथ कन्यकाम।' कुछ लोलुप दान लेने वालों ने घोषणा कर दी, अलंकारों, वस्त्र से सज्जित कर कन्या-दाता चन्द्र लोक पायेगा' - सालंकारो च भोग्यां च सवस्त्रां सुन्दरीं प्रियाम्। यो ददाति च विप्राय चन्द्रलोके महीयते। (देवी भागवत 9/30)।

इन्द्र ने चन्द्र के माध्यम से ही अहल्या को भरमाने का प्रयास किया था। 17वीं शती के प्रबन्ध काव्य 'परमार रासो के' 'महोबा खण्ड' की एक गाथा है। तपन के ताप से तप्त, वासना से विकल मन्त्री-पुत्री हेमावती सरोवर में तन शीतल करने उतरी। विह्वल शशि ने सलिल में उतर, उसे अनुराग से अंकवार में भर लिया। कौमार्य-भंग तथा अपयश के भय से बाला आकुल हुई। चन्द्र ने आश्वस्त करते कहा, 'तेरा पुत्र विजयी वीर होगा।' उससे चन्द्रवर्मन का जन्म हुआ। उस बेला चन्द्र आया ही नहीं, स्पर्श-मणि या पारस पत्थर भी दे गया। वह चन्द्रात्रेय या चन्देल वंश का सूत्रपात था।

अनेक जन्म कथायें - ऋग्वेद के अनुसार, ज्योतिमय शशि उस अनन्त के असीम अन्तर से आविर्भूत है। 'चन्द्रमा मनसो जातः' (10/90/13)। अपार आकाश उस अनन्त का हृदय ही तो है। इसीलिये तो उसमें द्रवणशीलता है। परमेश्वर दुःखहर्ता माना जाता है। चन्द्र भी श्रमित शरीर को शीतल कर, स्फूर्ति और शक्ति देता है उसमें पोषण-क्षमता है। हृदय भाव-भरा माना गया है। शशि में भी वही शीतलता है। हिमकर, शीतकर शीतांशु आदि सम्बोधन इसी कारण हुए। परम पुरुष से उद्भूत है। उसका अंश होने से यह भी तद्रूप है। उसके ही गुणों से युक्त है। गीता में इसी

का अनुमोदन है। श्रीकृष्ण ने कहा है, 'नक्षत्रों में मैं चन्द्र हूँ।' (नक्षत्राणामहं शशि, गीता 10/21)। यामिनी में तारकावली के मध्य मृगांक ही तो सत्ता युक्त प्रतीत होता है। उसके समक्ष अन्य तारे निष्प्रभ लगते हैं ।

अत्रि की अक्षि से चन्द्र के उद्भव की अनेक आख्यायिकायें पुराणों में प्राप्त हैं। उनका भी अपना अर्थ है। महाभारत के आदि पर्व में चन्द्रमा अत्रि मुनि तथा अनसूया की पाँच सन्तानों में से एक हैं। सबसे छोटे हैं। अतः सबसे अधिक प्रिय हैं, नयन की पुतली से (महाभारत, आदि पर्व 4/13, ब्रह्माण्ड पुराण, 2/12/25)। एक कथा के अनुसार, विधाता ने अपने मानस-पुत्र अत्रि को सृष्टि-सर्जना का आदेश दिया। उसके लिये संयम से संचित ऊर्जा की अपेक्षा थी। वे 'अनुत्तर तप' कर रहे थे। उनकी आँखों से अश्रु-कण छलके शुभ्र, समुज्ज्वल। वे दृग्जल जगमगाते हुए, आकाश में अपनी आभा फैला रहे थे। दिशाओं ने उसे अपने अन्तराल में गर्भ-पिण्ड के रूप में आत्मसात किया। पर वे उसे वहन-सहन करने में अक्षम हो रही थीं। अतः विधना ने उस सलिल राशि को संचित कर, उसे युवा के आकार में प्रस्तुत किया (पद्म पुराण, सृष्टि खण्ड, 12/8-10)। सभी ने उसका अभिनन्दन किया। परिक्रमा करते चन्द्र का कुछ तेज धरा पर गिर पड़ा। उससे वनस्पतियों का पोषण हुआ। आँसू से चन्द्र के आविर्भाव के पीछे जल के जीवन होने का भाव है ही। नयन से ही करुणा उत्पन्न होती है। जब तक पोषण में संवेदना का भाव न होगा, वह उचित रीति से सफल न होगा। तपी के लोचन से लुरित जल में दया की लहर होगी। जल को जीवन कहते ही हैं। वह शीतलता के साथ प्राण का संचार करने वाला है। चन्द्र अमृत सदृश सलिल धारण करने से ही सुधाकर हैं। धरा से रवि-रश्मियों द्वारा आकृष्ट जल चन्द्र-मण्डल में एकत्र होता है। वही संचित नीर गंगा के रूप में सुमेरु गिरि पर गिरा था (विष्णु पुराण, 2/8/114) गंगा की यह गाथा भी मात्र चन्द्र से जगत को जीवन पाने का संकेत करती है ।

एक अन्य मत के अनुसार चन्द्र, सूर्य और भद्रा के पुत्र हैं। यह सिद्ध है कि चन्द्रमा भास्कर से प्रकाश पाता है (प्राचीन चरित्र कोश, सिद्धेश्वर शास्त्री पृ. 202)। पिता के वैभव पर पुत्र का अधिकार होता ही है। महाभारत के आदि पर्व में इसका उद्भव 'सागर-मन्थन' से माना गया है। प्रातः सिन्धु की लहरों में उछलता, उठता, कन्दुक-सा सूरज वहीं से उग रहा प्रतीत होता है। श्रीमद्भागवत में इसे मनोमय, अमृतमय, पशु-पक्षी, वल्लरी, वनस्पति सभी का जीवन-दाता कहा गया है (5/22/10)। ॠग्वेद के सायण भाष्य में भी इसके सूर्य से प्रकाश पाने का उल्लेख है। चन्द्रबिम्बे सूर्यकिरणात् प्रतिफलन्ति। महाभारत में इसे धर्म और मनस्विनी की सन्तान कहा गया है (आदि पर्व 68-19)।

वैज्ञानिकों के मत से, चन्द्रमा तथा धरती का जन्म साथ-साथ वायवी कणों तथा धूलि से हुआ था। नवजात सूर्य के चतुर्दिक भाँवरें डालते कणों तथा धूलि से ही सुन्दर चन्द्र का सुजन हुआ। 'अपोलो' के द्वारा लाये गये शिला-खण्डों के विश्लेषण से इसकी पुष्टि हुई है। यद्यपि धरती तथा चन्द्र की चट्टाने एक जैसी नहीं हैं। अन्तर अनुपात- भिन्नता से है।

चन्द्र का परिवार - 11 हजार योजन व्यास तथा 33000 की परिधि वाले चाँद का रथ तीन पहियों का है। इसे सागर से या सिंधु देश से सुलभ दस मोतियों जैसे उजले घोड़े खींचते हैं। तीन पहियों से अभिप्राय है, यह वाहन तीनों लोकों में, तीनों कालों-भूत, भविष्य, वर्तमान में चलायमान रहेगा। एक मत से, उस वाहन में मृग जुते हैं। सूर की राधा, मनोरंजन के लिये, वीणा बजाने का निषेध करती हैं - 'दूरि करहु बीना कर धरिबो।' चन्द्र के रथ में जुते मृग टोडी रागिनी से मुग्ध होकर रुक जायेंगे। रथ थम जायेगा। फिर रात न बीतेगी। वियोग की पीर द्रौपदी का चीर बन चीर जायेगी। चन्द्र ने दक्ष प्रजापति की सत्ताइस कन्याओं से विवाह किया था। वे नभ में विद्यमान 27

नक्षत्र हैं (महाभारत, आदि पर्व 60/12,13)। उन सभी सह-धर्मिणियों में रोहिणी पर उनकी अधिक प्रीति थी। वह रूप-सम्पदा से सम्पन्न थी। पति का पक्षपात अन्य को सह्य न हुआ। दक्ष से कहा। उन्होंने कुपित होकर चन्द्र को शाप दे दिया। वैसे क्षय या यक्ष्मा अति भोग से उत्पन्न राजरोग ही है। देवों ने दक्ष से अनुशंसा की। कारण, चन्द्र के क्षय का प्रभाव धरा पर पड़ने लगा था। दक्ष ने सभी पत्नियों से समान व्यवहार करने का प्रण करा कर, क्षमा कर दिया। उपचार के लिये, प्रभास तीर्थ पर अमावस्या को स्नान करने लिये कहा। उसे पूर्ववत कान्ति मिल गई। 'भास' की प्राप्ति से यह क्षेत्र प्रभास के नाम से प्रसिद्ध हुआ (महाभारत, शल्प पर्व 241)। गौरी-व्रत के कारण रोहिणी को नभ में अक्षय स्थान मिला। चन्द्र से उसे पुत्र बुध के अतिरिक्त चार कन्यायें हुई - सुरूपा, हंसकाली, भद्रा, तथा कामदुधा।

कहा जाता है, चन्द्र ने बृहस्पत्ति की पत्नी तारा का हरण कर लिया था। उसके लिये तारकमय युद्ध हुआ। देवों की मध्यस्थता से तारा बृहस्पति को मिल गई। पर वह गर्भवती थी। अतः उसने उसे स्वीकार करने में असमर्थता प्रकट की। तारा ने भी गर्भ चन्द्र से होने की बात स्वीकार की थी। वह पुत्र बुध था। बुध के जन्म की एक और गाथा 'विष्णु धर्म' में प्राप्त है। रज ने वरुण की पुत्री वारुणी से विवाह किया था। वह एक बार सागर में डूब रही थी। उसे बचाने चन्द्र सिंधु में कूदा। लहरों के हिल्लोल में एक बालक उपराया। बुध नामक उस बालक को बृहस्पति की पत्नी तारा ने अपनाया। फिर पालन में असुविधा देख, उसने उसे चन्द्र की पत्नी दाक्षायणी को दे दिया (1-104)। बुध चंद्र से अलगाया ग्रह है।

चाँद में क्या है?

अभी समाचार-पत्रों में चाँद में मानव-आकृति सी दिखाई देने की खबरें छप रही थी। चाँद में क्या है, यह जिज्ञासा, उत्सुकता आज की नहीं है। अगस्त 1835 में 'न्यूयार्क सन' में प्रकाशित समाचारों ने संसार में हलचल मचा दी थी। ब्रिटिश ज्योतिर्विद सर जॉन हर्षेल ने चाँद पर जीवन के चिह्न पाये। उसने एक ऐसे दूरदर्शक से गगन की गहराई में झाँका, जिससे वस्तु 42,000 गुना बड़ी दिखाई देती थी। उसे चन्द्र के एक भाग में स्पष्ट रूप से अनेक पौधे दिखाई दिये। 16 विभिन्न जीव नजर आये। उनमें छोटे रेनडियर थे। सींग वाले भालू थे। दुम रहित मात्र दो पैरों वाले ऊदबिलाव भी थे। ऐसी चटपटी खबरें दूसरे अखबारों ने भी रस लेकर छापी। उनमें चाँद पर लहलहाते खेतों का वर्णन था। खेतों में भैंसें चर रही थी। उनकी आँखों पर मांस के लोथड़े लटक रहे थे। नीलम से बना बड़ा सा पूजा-गृह था। चार फीट लम्बे, चमकीले ताँबई रंग के अर्ध मानव भी दिखाई दिये। उनकी पीठों पर पंख थे। वे झील में नहा रहे थे। कहीं उड़ रहे थे। बतिया भी रहे थे। ऐसे सनसनी वाले समाचारों से 'सन' की बिक्री चोटी पर पहुँच गई। अमेरिका तथा यूरोप के दूसरे अखबार उन्हें उद्धृत कर रहे थे। 'सन' की 60,000 प्रतियाँ हाथों-हाथ बिक गयीं। अन्त में हर्षेल ने ही पोल खोली। सब कलम के जादू से रचा माया-महल था। पत्रकार को त्यागपत्र देना पड़ा।

चाँद पर क्या है, इसकी कल्पनायें आदि काल से हो रही हैं। सचाई तो ऊपर वाला जाने। सब सुनता, वह मामा कहा जाने वाला बस मुस्काता रहता है। चीन के निवासी कहते हैं, चांद पर मेंढक है। वे तो उसका जन्म-दिन भी मनाते हैं। एक निश्चित दिन चाँद के आकार का केक सजाया जाता है। केक का वितरण मित्रों में, जन्म-दिन के समान ही होता है। बच्चों को इस दिन मिट्टी के पैगोडा बांटे जाते हैं। खिलौने भी दिये जाते हैं। यह जन्म-दिन फसल काटे जाने का भी सूचक है। रूसी मान्यता में, ईश्वर को सताने वाला यह बूढ़ा बंदी है। केन्या में पति सूर्य से लगी चोट की कल्पना है।

भारत में, इसे लक्ष्य कर अनेक कल्पनायें हैं। वह गुरु-पत्नी हरण के कलंक रूप में वर्णित हुआ। यह धरती का प्रतिबिम्ब माना गया (रघुवंश, 14/40)।

उसमें मृग भी माना जाता है। इस आधार पर चाँद को मृगांक, मृगधर, मृग-लक्ष्म, मृग-लांछन, हरिणांक आदि कहा जाने लगा। धब्बे को शश भी मान कर, चाँद को शशि, शशांक, शशधर की संज्ञा देते हैं। शशपान तीर्थ पर देवों ने अमृत छका। चन्द्र विलम्ब से पहुंचने से चूक गये। सुरों की बात मान, उन्होंने सरोवर ही आत्मसात कर लिया। एक शशक सर-जल पी रहा था। वह भी उदरस्थ हो गया और वहीं आज भी विद्यमान है। शश के लिये सामान्य भाषा में खरहा शब्द है। वह खर या वनस्पति का हरण करता है। चन्द्र उसका पालक है। अतः उसे हटाना चन्द्र का धर्म है। यह संकेत या सन्देश जनसामान्य के लिये है। वे प्रकृति के रक्षक बनें।

सोम से चन्द्र वंश का सूत्रपात हुआ। प्रयाग उसकी राजधानी बनी। विभावरी मेरु के उत्तर में उसकी नगरी है। रात में ज्योत्स्ना से जगमगाती चांदनी को चाँद की नगरी बताना रम्य कल्पना है (मत्स्य पुराण, 266/26)। जब सप्तर्षियों ने धरा का दोहन किया, तब यह बछड़ा बना था। बिना वत्स के गाय नहीं दूही जा सकती। वैसे ही बिना चन्द्र का आश्रय लिये धरती की औषधियां न मिलेंगी। शिव ने चन्द्र के दुख दूर किये। उसने काठियावाड़ में चन्द्रकुण्ड पर सोमनाथ की अर्चना की। सोम की आराधना के कारण ही चन्द्र का नाम सोम भी हुआ (स्कन्द पुराण 4/1/14)।

पूर्वी प्रदेश को जीतने वाला राजा सम्राट, पश्चिमी में स्वराट्, उत्तर में विराट् तथा दक्षिण में विजयी राजा भोज कहाता था। चारों दिशाओं को जीतने राजा एकराट् या सार्वभौम कहाता था। चन्द्र ने राज्य की महिमा बढ़ाने के लिये राजसूय यज्ञ किया था। चन्द्र के पुत्र बुध ने मनु की कन्या इला से विवाह किया था। मनु ने कन्या को प्रतिष्ठान नगर दिया था। बुध चन्द्र-वंश का प्रवर्तक हुआ। इस वंश में पुरुरवा, आयु, नहुष आदि अनेक प्रतापी राजा हुए। यदु के पौत्र महिष्मान् ने माहिष्मती नगरी बसाई थी। ययाति भी इसी वंश में हुआ। इसे ऐल वंश भी कहते हैं।

राजवंशों ने अपने को महिमा-मंडित करने के लिये दैवी पदार्थों से जोड़ा। सूर्य, चन्द्र, अग्नि आदि वंश इसके प्रमाण हैं। चन्द्र पर निरन्तर शोध चलती रही। अपोलो यान के वापस आने पर चांद के अनेक रहस्य ज्ञात हुए। कभी यह धरती का ही भाग था। फिर एक गढा बना अलग हो गया। वही गढ़ा प्रशान्त सागर बना। पर इस सिद्धान्त को वैज्ञानिक नकारते हैं। 1959 में रूसी यान अपोलो द्वितीय ने चाँद के अनेक चित्र लिये। उससे ज्ञात हुआ, वहां गढ़े, पहाड़ हैं, पर जीवन नहीं है। 1969 में वहां से लाई धूल के परीक्षण में लाल, भूरे, हरे, पीले शीशे के कण मिले। वे धरा पर नहीं पाये जाते। वहाँ पोटैशियम तथा यूरेनियम धरा से चार गुना अधिक है। 1950 में पश्चिमी गोलार्ध के अलबर्टा में दावानल फैला। उसके कारण कनाडा में चाँद नीला दिखाई दिया था।

चाँद का धरा पर प्रभाव

चाँद को लेकर, कुछ कवि प्रसिद्धियाँ हैं। उनमें सचाई भी है। जैसे जुन्हाई से मानव के मानस में ज्वार आता है, वैसे अचल कहे जाने वाले सागर का मन भी चंचल होकर मचल जाता है। वह भी जैसे गगन में मगन सी, मोहक मुस्कान लिये, माधुरी बिखेरती, मयंक-मुखी को मादक पाश में बाँध लेने के लिये तरंगें उचकाता है। समुद्र की वह हलचल, वह बेचैनी, आकुलता और आवेग किसी कामातुर से कमतर नहीं। उस उफान, उस उछाल का रूप भी सब जगह एक-सा नहीं। विभिन्न स्थानों पर भिन्न-भिन्न रहता है। कहीं एक बार, कहीं दो बार। ज्वार की उच्चता भी अलग। नान टुकेट द्वीप में ज्वार-तरंगों की उच्चता केवल दो फीट रहती है। अटलान्ट सागर के तट पर मियामी लोगों ने दिन में दो बार ज्वार आते देखा था। मैक्सिको की खाड़ी में पेन्साकोला के वासियों ने एक ही ज्वार उठते पाया। मछुआरों ने मियामी के निकट 'के' द्वीप में दो ज्वार देखे, पर उनकी उछाल में अन्तर था। चन्द्र लहरों को प्रभावित करता है। यह बात

भारतीयों को ज्ञात थी। सम्भवतः उन्हीं से अरस्तू को भी पता चली। ज्वार के इसी वैचित्र्य ने नेपोलियन तथा हिटलर को समुद्री मार्ग से ब्रिटेन पर आक्रमण करने से रोका था। जब सीजर ने ब्रिटेन पर हमला किया, तो उसे इसी कारण मुंह की खानी पड़ी। सामान से लदी उसकी हलकी नावें लहरों के थपेड़ों से नष्ट हो गई। स्पेनी बेड़े 'आरमेडा' को भी यह भुगतना पड़ा।

एक कवि-प्रसिद्धि और है। चन्द्र को देख कर चकोर अंगार खा लेता है। चन्द्र हिमकर है, पर वह अंगारे बुझाने वाला दमकल नहीं। पक्षि-विशारदों ने अनुभव किया, पूर्ण चन्द्र पर चकोर उग्र हो उठता है। यहाँ तक कि स्वामी पर भी आक्रमण कर देता है। 'अंगार-खाना' मुहावरा उपद्रव करने के अर्थ में चलता है। चकोर के लिये भी चला। फिर यह लाक्षणिक न रह कर, अभिधात्मक हो गया। चन्द्र 'औषधि पति' है। किरणें उनमें चुंबकीय प्रभाव डालती हैं विशेषतः पूनम पर। पूनम पर, लहरों पर तिरती, चमकती चाँदनी की चादर जादुई लगती है। एक चीनी कवि तो मुग्ध होकर तरंगों में कूद ही पड़ा था। चन्द्र जादू का पिटारा ही है। वैसे भी 'लूनार' या चन्द्र के पीछे कितने 'बावले' हुए। चन्द्र 'लूनेसी' या उन्माद लाने वाला है ही। कितने पगलेट चन्द्र-मुख के लिये अर्ध-चन्द्र या 'गरदनिया' पाते हैं। चन्द्र मन से उद्भूत विकार है। इसीलिये कहा है, 'चन्द्रमा मनसो जातः।' काम के अंकुरण से चंद्र का संबंध है। कहा गया है, 'रोमकाले तु संप्राप्ते सोमो भुंजीथकन्यकां।' यह रजनीपति रस बरसाता, अन्तर को रसीली रश्मियों से ऐसा सरस करता है कि नस-नस रस से भर जाती है। काम उभर आता है। काम के सारे पर्याय भी चन्द्र और मन से जुड़े हैं। मनोज, मनोभव, मनसिज, मनोजात, मनसि-शय आदि। पशु-पक्षियों पर भी मयंक का प्रभाव है। मयूर जिस पुच्छ-वितान का तान मयूरी को लुभाता है, उस पर चाँद ही चाँद नजर आता है। वृष का अर्थ 'सांड' तथा काम दोनों है। यह चार प्रकार के मानवों में हैं। शिव ने उसे ऐसा नाथा कि वृष उनका वाहन, नाँदिया बन गया।

विट्ठलनगर, खण्डवा
म. प्र. - 450001

●

एक नगर में रहने वाले एक पंडित जी की ख्याति दूर-दूर तक थी। पास ही के गाँव में स्थित मंदिर के पुजारी का आकस्मिक निधन होने की वजह से, उन्हें वहाँ का पुजारी नियुक्त किया गया था।

एक बार वे अपने गंतव्य की ओर जाने के लिए बस में चढ़े। उन्होंने कंडक्टर को किराए के रुपये दिए और सीट पर जाकर बैठ गए। कंडक्टर ने जब किराया काटकर उन्हें रुपये वापस दिए तो पंडित जी ने पाया कि कंडक्टर ने दस रुपये ज्यादा दे दिए हैं। पंडित जी ने सोचा कि थोड़ी देर बाद कंडक्टर को रुपये वापस कर दूंगा। कुछ देर बाद मन में विचार आया कि बेवजह दस रुपये जैसी मामूली रकम को लेकर परेशान हो रहे हैं। आखिर ये बस कंपनी वाले भी तो लाखों कमाते हैं। बेहतर है इन रुपयों को भगवान की भेंट समझकर अपने पास ही रख लिया जाए। इनका सदुपयोग ही होगा।

मन में चल रहे विचार के बीच उनका गंतव्य स्थल आ गया। बस से उतरते ही उनके कदम अचानक ठिठके, उन्होंने जेब में हाथ डाला और दस का नोट निकाल कर कंडक्टर को देते हुए कहा, भाई तुमने मुझे किराया काटने के बाद भी दस रुपये ज्यादा दे दिए थे। कंडक्टर मुस्कराते हुए बोला, क्या आप ही गाँव के मंदिर के नए पुजारी हैं? पंडित जी के हामी भरने पर कंडक्टर बोला, मेरे मन में कई दिनों से आपके प्रवचन सुनने की इच्छा थी। आपको बस में देखा तो ख्याल आया कि चलो देखते हैं कि मैं अगर ज्यादा पैसे दूँ तो आप क्या करते हो। अब मुझे विश्वास हो गया कि आपके प्रवचन जैसा ही आपका आचारण है जिससे सभी को सीख लेनी चाहिए। बोलते हुए, कंडक्टर ने गाड़ी आगे बढ़ा दी।

पंडित जी बस से उतरकर पसीना पसीना थे। उन्होंने हाथ जोड़कर भगवान का आभार व्यक्त किया। प्रभु तेरा लाख लाख शुक्र है जो तूने मुझे बचा लिया, मैंने तो दस रुपये के लालच में तेरी शिक्षाओं की बोली लगा दी थी। पर तूने सही समय पर मुझे सम्हलने का अवसर दे दिया।

कभी-कभी हम भी तुच्छ से प्रलोभन में, अपने जीवन भर की चरित्र-पूंजी दांव पर लगा देते है..!

अध्यक्षीय *पृष्ठ 4 का शेषांश ......*

क्वांटम-फिजिक्स (भौतिकी) व गणित का उन्होंने बहुत उपयोग किया है अगर इसका हिन्दी अनुवाद उपलब्ध हो सकेगा तो पूरा अथवा उसका सार-संक्षेप प्रकाशित करेंगे।

वेद, दर्शन और विज्ञान पर तीन सेमिनारों में मुझे भी शामिल होने का अवसर मिला था। उनमें भी चेतना के संबंध में गहन चर्चाएं हुई थी। सारी बातें यहां स्थानाभाव के कारण लिखना संभव नहीं है। इस पर भी गंभीर चर्चा हुई थी कि मरने के बाद क्या होता है? पुनर्जन्मवाद विज्ञान सम्मत है या नहीं? इस विषय पर डॉ. ब्रायन विज़ की पुस्तकें और उनकी स्थापनाएं भी द्रष्टव्य हैं। इस विषय पर अनेक लोगों ने लिखा है और स्थापित किया है कि पुनर्जन्म संभव है। एक ही आत्मा नये-नये शरीर लेकर वापिस इस दुनिया में आती है। आत्मा निरंतर है, इसके शरीर ही परिवर्तित होते हैं, जैसा कि भगवान कृष्ण ने गीता में कहा है। इसी तरह और भी बहुत-सी बातें हैं जैसे - क्या हमारी पृथ्वी, सूर्य, ग्रह-नक्षत्र आदि चेतन हैं? हमारे आस-पास की कुर्सी, मेज आदि पदार्थों में क्या चैतन्य है। बहुत से वैज्ञानिक मानते हैं कि पदार्थ में भी हल्की-सी चेतना होती है। अतएव पृथ्वी, ग्रह, नक्षत्र आदि चैतन्य हैं और यह चेतना एक दूसरे से जुड़ी हुईं है, इस तरह विश्व के सारे पदार्थ चैतन्य हैं और उनकी चेतना मिलकर के एक वैश्विक चेतना बनती है। तब क्या यही ब्रह्म है या इससे पहले भी कुछ है, इन प्रश्नों का अभी तक कोई विज्ञान के पास उत्तर नहीं है, लेकिन इन विषयों पर गहन चर्चाएं हो रही हैं।

बहुत से विद्वान, जैसे श्री अमित गोस्वामी आदि ने पदार्थ में भी चेतना है, यह स्थापित करने की चेष्टा की है। उनकी पुस्तक Conscious Earth (चेतन पृथ्वी) द्रष्टव्य है। इसमें उन्होंने पृथ्वी भी चैतन्य है, यह स्थापित किया है। कुछ वैज्ञानिक मानते हैं कि परम वैश्विक चेतना से ही इस ब्रह्माण्ड का निर्माण हुआ है और उन्होंने मानवीय चेतना को वैश्विक चेतना से जोड़ने का भी प्रयास किया है। ये सब सिद्धांत हमारे उपनिषदों और गीता के बहुत नजदीक हैं, जैसे कहा है इदम् सर्वं ब्रह्मं अर्थात जो कुछ भी है वह ब्रह्म है। श्रुति कहती है कि परम चेतना की इच्छा हुई तो उसमें अपने आप से सृष्टि प्रकट हुई जैसे - मकड़ी अपने अंदर से रेसा निकालकर जाल बुनती है और पुनः अपने में ही समेट लेती है। वेद में सृष्टि चार उपादानों से बनी बतायी जाती है - आर्द्रता की राशि (सलिल) से, ईश्वरीय तप से, आकाश से, स्वतः परमेश्वर से। इन सभी साधनों और उपादानों का कर्ता परमात्मा ही है। सृष्टि की उत्पत्ति ईश्वर की सत्ता से हुई। ब्राह्माण्ड (सृष्टि) ब्रह्म (ईश्वर) के ही अंशों का विस्तार है। ईश्वर ही इसकी प्रेरणा और मूल कारण है। सृष्टि के रूप में स्वयं को असंख्य रूपों में प्रकट करना और सभी रूपों का लोप करना ईश्वर की सहज और शाश्वत लीला है। इस सब पर अभी तक वैज्ञानिकों का चिंतन जारी है।

सुधी विद्वानों से निवेदन है कि ऐसे विषयों पर और भी लेख भेजें। पुनर्जन्मवाद पर भी बहुत कुछ लिखा जा सकता है। विषय बहुत गंभीर है। इसे समझने के लिए विद्वानों के लेखों को बार-बार पढ़ने से ही बात समझ में आती है। हम चाहते हैं कि इन विषयों पर और लेख विद्वानों के सहयोग से हमें प्राप्त हों जिससे उन्हें सुधी पाठकों के सामने प्रस्तुत कर सकें।

- डॉ. बिट्ठलदास मूँधड़ा

संपादकीय *पृष्ठ 6 का शेषांश ......*

नहीं होते थे, लोग स्वतः एकत्र होकर देवताओं अथवा दिव्य शक्तियों की उपासना भय या आदर से करते थे। उक्त सभी भारोपीय देवता वैदिक देवताओं में भी प्रमुख अथवा गौण रूप से विद्यमान है।

वेद-व्याख्याता आचार्य यास्क ने सभी वैदिक देवताओं को तीन वर्गों में विभाजित किया है-- द्यु अथवा आकाश स्थानीय देवता, अंतरिक्ष स्थानीय देवता तथा पृथ्वी स्थानीय देवता। यास्क के अनुसार प्रत्येक वर्ग में 11-11 देवता हैं। इसका उल्लेख ऋग्वेद (1/139/11) में भी है। इस तरह कुल देवता 33 हुए। बाद में ब्राह्मण ग्रंथों में प्रजापति (ब्रह्मा) नामक एक और देवता होने से यह संख्या 34 हो गयी।

द्युस्थानीय अथवा आकाश स्थानीय देवगण मूलतः सूर्य से संबंधित हैं। बाद में ब्राह्मण ग्रंथों में सूर्य के लिए आदित्य शब्द रूढ़ हो गया। पौराणिक काल में इन्हें अदिति के पुत्र कहकर आदित्यगण कहा जाने लगा। वैदिक काल के प्रारम्भ में छह आदित्य- मित्र, वरुण, अर्यमा, भग, दक्ष और अंश थे जो बाद में सात, फिर आठ और पौराणिक काल में बारह हो गये। भागवतपुराण के अनुसार इनके नाम हैं-- विवस्वान्, अर्यमा, पूषा, त्वष्टा, सविता, भग, धाता, विधाता, वरुण, मित्र, शक्र (इंद्र), उरुक्रम (विष्णु)। आदित्यगण में सर्वोत्कृष्ट एवं आदरणीय देवता वरुण को माना जाता है और अन्य आदित्य उसके विशेषण मात्र हैं। मित्र और वरुण परस्पर घनिष्ठ हैं, ऋग्वेद में अधिकांश जगह मित्रावरुणौ युग्म के लिए सूक्त कहे गये हैं। बाद में वरुण के स्थान पर इंद्र का महत्व हो गया। सौर देवताओं में अश्विनौ भी एक महत्वपूर्ण युग्म देवता है जो ब्राह्मवेला में उदित सूर्य है। इसे पौराणिक काल में देवताओं का वैद्य कहा जाने लगा। ऋग्वेद में सूर्य के भौतिक रूप से प्रत्यक्ष संबंधित देवता सूर्य ही है, वह स्वयंभु है और उसके अनेक रूप ही विभिन्न आदित्य हैं।

अंतरिक्ष स्थानीय देवताओं में सर्वाधिक महत्वपूर्ण इंद्र है। वैदिक युग के देवों में इंद्र का सर्वाधिक महत्व इससे ही विदित हो जाता है कि ऋग्वेद में उनकी स्तुति में सबसे अधिक सूक्त (लगभग 250) कहे गये हैं। यह वृष्टि का देवता है। भारत में वर्षा के महत्व को देखते हुए वर्षा से संबंधित इंद्र की पूजनीयता स्वाभाविक है। ऋग्वेद में इंद्र वैदिक देवताओं में सर्वाधिक मानवीय तत्वों से परिपूर्ण हैं। अंतरिक्ष स्थानीय देवताओं में 108 देवताओं का एक समूह मरुद्गण कहा गया है। मरुत् शब्द झंझावाद अथवा तीव्रता से प्रवहमान वायु को सूचित करता है। वायु अंतरिक्ष के प्रतिनिधि देवता हैं जो शांत हैं। इन्हें प्राण भी कहा गया है। ऋग्वेद में रुद्र नामक, एक अन्य देवों से भिन्न देवता का उल्लेख किया गया है जो उग्र तथा विनाशक हैं। शतपथ ब्राह्मण में अग्नि को ही रुद्र कहा गया है। वाजसनेयी संहिता में रुद्र का एक विशेषण शिव आया है। वाजसनेयी संहिता तथा शतपथ ब्राह्मण में सर्वप्रथम एक देवी का उल्लेख है जो बाद में सूत्रग्रंथों में रुद्र या शिव की पत्नी हो गयी। ऋग्वेद में सर्वप्रथम गणपति शब्द रुद्र के विशेषण के रूप में आया है जो बाद में विघ्नकर्ता विनायकों से संबंधित हो गया। इसी तरह स्कन्द नामक एक देवता है जिसका दूसरा नाम कार्तिकेय है और बाद में इनको शिव-पार्वती के पुत्र रूप में कहा जाने लगा।

पृथ्वी स्थानीय देवताओं में अग्नि सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं। ऋग्वेद में इन्द्र के बाद सर्वाधिक सूक्त अग्नि से संबंधित हैं। अग्नि का सर्वाधिक महत्व इस बात से था कि इसके माध्यम से ही देवताओं को यज्ञ भाग प्राप्त होता है। यज्ञीय कर्मकाण्ड के कारण वैदिक युग में अग्नि का अतिशय महत्व हो गया। ऋग्वेद में वरुण, वृहस्पति इत्यादि देवों के साथ एक देवता यम का भी उल्लेख है। यह देवता अन्य देवताओं की तरह अमर नहीं है और

इसका यज्ञ से भी कोई संबंध नहीं है। ऋग्वेद के नवम् मंडल में सोम देवता को लेकर 114 सूक्त लिखे गये हैं जिनमें इनकी महानता को प्रकट करने वाली अनेक उच्चस्तरीय कल्पनाएं हैं। सोम किसी लता से निकाला जाने वाला रस बताया जाता है जिसमें वैदिक आर्य दूध तथा मधु मिलाकर आनन्ददायक, स्फूर्तिदायक एवं बलवर्द्धक पेय तैयार कर देवों को अर्पित करते थे और स्वयं भी पान करते थे।

ऋग्वेद के दशम मंडल के परवर्ती सूक्तों में ऋषियों की प्रवृत्ति अमूर्त अथवा भावात्मक देवत्व की हो गयी लक्षित होती है। इस मंडल के 121वें सूक्त में जिसे हिरण्यगर्भ कहा गया है उसका तादात्म बाद में ब्राह्मणकालीन प्रजापति से हो गया जो सृष्टिकर्ता है और सब प्रजाओं का स्वामी है। इस तरह वैदिक ऋषियों की दृष्टि भौतिकता से ऊपर उठकर आध्यात्मिक स्तर पर पहुंच गयी। शतपथ ब्राह्मण में प्रजापति को ब्रह्म कहा गया। यही ब्रह्म पौराणिक काल में ब्रह्मा हो गया। वैदिक कालीन धार्मिकता में यज्ञ का प्रमुख स्थान था और इसका संचालन वाक् या वाणी के द्वारा होता था। वृहस्पति इसी वाक् अथवा वाणी से उच्चरित स्तोत्र, सूक्त आदि तथा उनसे होने वाले परिणामों के अधिष्ठाता हैं। वेदों के सर्वोत्कृष्ट देवों के समूह आदित्यगण की माता के रूप में अदिति का ऋग्वेद में पर्याप्त महत्वपूर्ण स्थान है। विद्वानों ने इसको आकाश की अनंतता, अमरता, चेतन अव्यक्त सत्ता आदि से संबंधित किया है। यद्यपि प्राचीन काल से ही इसके पृथ्वी से संबंधित होने की धारणा होती चली आ रही है। ब्राह्मण साहित्य में तो स्पष्ट रूप से अदिति का संबंध पृथ्वी से वर्णित है।

वैदिक काल की यह विशेषता उल्लेखनीय है कि ऋषिगण किसी भी एक देवता से कई देवताओं का निर्माण कर लेते थे। वस्तुतः वे किसी देवता के विशेषणों को ही अलग-अलग देवता मान लेते थे। वैदिक बहुदेववाद में यह प्रवृत्ति थी कि ऋषियों के लिए कोई भी देवता सर्वाधिक महत्वपूर्ण नहीं रहा। वे किसी भी देवता को यथा अवसर सर्वोच्च एवं अन्य देवताओं को गौण मान लेते थे। यह प्रवृत्ति अभी भी विद्यमान है। प्राचीन आर्य किसी भी महत्वपूर्ण प्राकृतिक तत्व को उसकी उपयोगिता के कारण देवभाव से युक्त कर देते थे जो फिर स्वतंत्र रूप से उपास्य हो जाता था। वैदिक देवताओं की एक यह प्रवृत्ति भी उल्लेखनीय है कि वे एक दूसरे से उत्पन्न वर्णित किये जाते थे।

वैदिक काल में उच्च वर्गीय आर्य इन्द्रादि देवताओं की उपासना और यज्ञ करते थे। जबकि निम्नवर्गीय आर्य व आर्यत्तर जातियां यक्षों की पूजा में विश्वास करते थे। अथर्ववेद में एक परम यक्ष की अवधारणा मिलती है जो भौतिक जगत की गतिविधियों पर नियंत्रण रखता है। इसे ब्रह्म (बड़ा महान) भी कहा गया है। महाभारत में यक्षों से संबंधित उत्सव को ब्रह्ममह कहा गया है। लोक विश्वास के अनुसार यह अत्यंत बलशाली सूक्ष्म देवी तत्व हैं जो सर्वत्र व्याप्त हैं। प्राचीन भारत में प्रत्येक ग्राम का रक्षक एक यक्ष हुआ करता था जिसकी पूजा पीपल या वटवृक्ष के नीचे चबूतरा बनाकर की जाती थी। वैदिक साहित्य में तीन प्रकार की अमंगलकारी शक्तियों का उल्लेख है- असुर, दस्यु (दास) तथा रक्षस् (बहुवचन, रक्षांसि, परवर्ती राक्षस)। इनमें से असुर (दैत्य व दानव) तथा राक्षस पौराणिककालीन धार्मिकता के विशेष अंग बन गये।

वैदिक देवतावाद के इतिहास में यज्ञ और यज्ञीय कर्मकाण्ड का उत्कर्ष एक महत्वपूर्ण घटना है। फिर स्वयं यज्ञ ही एक महान देवता बन गया और इसके सामने सभी वैदिक देवता गौण हो गये। यज्ञीय कर्मकाण्ड की अति और उसकी जटिलता ने पुरोहितों-ब्राह्मणों का इतना महत्व बढ़ा दिया कि उन्होंने जन-जीवन को तो अपने अधीन कर ही लिया, देवताओं को भी अपने अधीन घोषित कर दिया। वे कहने लगे-- देवाधीनं जगत सर्वे, मंत्राधीना च देवता, ते मंत्रा ब्राह्मणधीना, तस्मात् ब्राह्मण देवता। अर्थात समस्त संसार देवताओं के अधीन है और समस्त देवता मंत्रों के अधीन हैं, सभी मंत्र ब्राह्मणों के अधीन हैं इसलिए ब्राह्मण ही देवता हैं। अति सर्वत्र

वर्जयेत, यज्ञीय कर्मकाण्ड एवं ब्राह्मणों की स्वेच्छाचारिता पर भी यह लागू हुआ। ईसा.पूर्व छठी शताब्दी में बौद्ध धर्म के उत्कर्ष ने वैदिक धर्म को निस्तेज कर दिया। ब्राह्मणों के सामने रोजी-रोटी की समस्या खड़ी हो गयी तो उन्होंने वैदिक देवताओं एवं यज्ञीय कर्मकाण्ड के स्थान पर लौकिक देवताओं और उनकी उपासना करने-करवाने को अपनाना शुरू कर दिया। परन्तु वैदिक संस्तुति के बिना वे किसी लौकिक देवता को अपनाना नहीं चाहते थे। अतः उन्होंने लौकिक देवताओं को वैदिक देवताओं से संस्तुत कर उन्हें मान्यता दे दी। सर्वप्रथम उन्होंने लोक में सर्वाधिक्य पूज्य महादेव शिव को वैदिक रुद्र से संबंधित घोषित किया और फिर लोक में पूज्य गौरी (अम्बिका, पार्वती), गणेश, स्कन्द, वृषभ, अग्नि, गंगा नदी, चंद्रमा, नाग (सर्प), यक्ष-रक्ष, भैरव एवं अन्य अनिष्टकारी गणों (भूत-प्रेतादि) को शिव परिवार का सदस्य बना पूजनीय बना लिया। धार्मिक दृष्टि से यह बहुत बड़ा समन्वय था। वन, श्मशान में निवास करने वाला यह जन-जन का पूज्य देवता ब्राह्मणों का भी पूज्य बन गया। फिर उनका क्रम आया जो ऐतिहासिक महापुरुष थे और लोकदेवताओं के रूप में पूज्य थे, ये थे परशुराम, राम, बलराम, कृष्ण आदि। इसके लिए ब्राह्मणों ने ब्राह्मण ग्रंथों में वर्णित प्रजापति से संबंधित अवतारवाद को अपनाया। इन लोक देवताओं की वैदिक संस्तुति के लिए ब्राह्मणों ने एक वैदिक आदित्य विष्णु को आधार बनाकर ब्राह्मण ग्रंथों में वर्णित प्रजापति के अवतारों-मत्स्य, कच्छप, वराह, नृहसिंह सहित वामन, परशुराम, राम, बलराम, कृष्ण आदि को विष्णु का अवतार घोषित कर दिया। इससे सनातन अथवा ब्राह्मण परंपरा में सर्वाधिक आधुनिक धार्मिक प्रवृत्ति वैष्णव धर्म का चलन हुआ। इनमें से वराह और नृसिंह पूजे गए, ब्राह्मणों ने एकमात्र ब्राह्मण महापुरुष अवतार परशुराम को नहीं पूजा क्योंकि इसमें कोई इनकम नहीं था। राम और कृष्ण सर्वाधिक पूजे गए। मूलतः तो कृष्ण-उपासना अथवा भागवत धर्म ही वैष्णव धर्म के रूप में परिवर्तित हुआ। रामायण, महाभारत जैसे महाकाव्यों और पुराणों का निर्माण हुआ। इस पौराणिक काल में सूर्य, इन्द्र, अग्नि आदि वैदिक देवताओं एवं यज्ञीय कर्मकाण्ड का पूरी तरह अपकर्ष हो गया और लोक धर्म की प्रतिष्ठा हुई। इसके अंतर्गत उक्त शिव तथा विष्णु के अवतारों के अलावा वृक्ष, पर्वत, नदी, समुद्र और न जाने क्या-क्या पूजनीय हो गये। अनगिनत लोकदेवता पूज्य हो गये और अब वेद व्याख्याता यास्क द्वारा बताये गये 33 देवताओं के स्थान पर 33 करोड़ देवता कहे जाने लगे। धार्मिक दृष्टि से कथित हिन्दू धर्म की यह विशेषता बन गयी कि यहां शास्त्र का कोई अनुशासन नहीं है और मान्यताओं आस्थाओं की अपार स्वच्छंदता है। शास्त्र कट्टरता उत्पन्न कर देता है, जबकि लोकत्व उदार होता है। यह उदारता भारतीय धर्म-संस्कृति की सनातनता के मूल में है। यहां तो स्पष्ट कहा गया कि शास्त्र और लोक (लोकाचार) में विरोध हो तो शास्त्र को एक तरफ रख दो।

- डॉ. बाबूलाल शर्मा

कवि माइकल मधुसूदन दत्त को आर्थिक संकट के समय विद्यासागर ने मदद की थी। इसे जानकर एक दिन एक शराबी उनके पास मदद के लिए चला आया। विद्यासागर के इनकार करने पर बोला- माइकल मधुसूदन भी तो शराब पीते हैं। विद्यासागर ने जवाब दिया- तुम भी उनकी तरह 'मेघनाथ वध' जैसा काव्य लिख सको, तो मैं तुम्हारी भी मदद करूंगा।

धोरां की धरती के पीर बाबा रामदेव (रामा पीर)

राजस्थान के विविध धार्मिक और लोकउत्सव और लोकदेवता आज के आधुनिक परिवेश में भी न केवल श्रद्धा प्रदर्शन का आकर्षण रखते हैं अपितु विद्वतजनों की खोज के विषय भी बने हुए हैं।" - डॉ. पुष्पा भाटी

राजस्थान के प्रसिद्ध लोकदेवता बाबा रामदेव जी की गणना राजस्थान के पाँच पीरों (पाबू, हड़भू, रामदेव, मांगलिया, मेहा) में की जाती है। जब प्रदेश में लूटपाट, छुआछूत व हिन्दू मुस्लिम झगड़ों के कारण अराजकता बढ़ गई थी और कहते हैं उस समय भैरव राक्षस का आतंक भी था ऐसी विषम परिस्थिति में पश्चिमी राजस्थान के पोकरण के निकट रुणिजा नामक स्थान पर बाबा रामदेव का अवतार हुआ। आप तंवर वंशीय राजपूत थे। उस समय दिल्ली पर अनंगपाल राजा था। इनके छोटे भाई रणसीजी दिल्ली छोड़कर राजस्थान के मारवाड़ इलाके में चले आये। सर्वप्रथम रणसी जी ने जंझाल गाँव में निवास किया रणसीजी के पुत्र अजमल हुए, इन्होंने पोकरण नगर को बसाया। इनके पुत्र रामदेव हुए।

बाबा रामदेव जी का जन्म विक्रम संवत 1461 (ई. सन 1404) भादवा सुदी बीज (दूज) शनिवार को मानते हैं। कुछ लोग विक्रम संवत 1470 को भी मानते हैं। बाबा रामदेव के वंशज आनन्द सिंह तंवर ने उनकी जन्म तिथि चैत्र शुक्ल पंचमी बताई है, जबकि इतिहासकार बाबा रामदेव की जन्म तिथि भाद्र शुक्ल दोज (द्वितीया) मानते हैं, कुछ विद्वान उनकी जन्म तिथि दशमी भी मानते हैं। बाबा पीर ने संवत 1515 में जीवित समाधि ली थी। इनका जन्मस्थल उन्डू (कश्मीर), तहसील शिव, जिला बाड़मेर राजस्थान है। तत्कालीन सामाजिक विद्रूपताओं, साम्प्रदायिक भेदभाव तथा अराजकता को मिटाने और सामाजिक समरसता का प्रादूर्भाव करने हेतु बाबा ने काफी प्रयास किया। सभी वर्गों में एकता तथा हिन्दू, मुस्लिम के वर्ग भेद व साम्प्रदायिकता को दूर करने में रामापीर सदैव संलग्न रहे। इसीलिए जहाँ बाबा हिन्दूओं के देव माने जाते हैं, वहीं मुसलमान भाइयों के लिए रामसा पीर है। राजस्थान में पांच पीरों की मान्यता है उनमें बाबा रामदेव की विशेष प्रतिष्ठा है।

बाबा रामदेव ने अछूतोद्धार के साथ ही दलितों की सदैव सेवा की तथा उन्हें ऊँचा उठाने के

लिए महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन किया। यद्यपि बाबा रामदेव पोकरण के शासक रहे किन्तु एक जन-सेवक के रूप में दलितों, गरीबों तथा पीड़ित रोगियों की सेवा में तत्पर रहे। कहा जाता है कि उस समय पोकरण निवासियों को भैरव राक्षस के आतंक से भी इन्होंने छुटकार दिलाया। प्रचलित किंवदंतियों, लोकगीतों तथा विभिन्न पड़तों और ग्रंथों के आधार पर ऐसा कहते हैं कि बाबा रामदेव के पिता अजमल जी के कोई संतान नहीं हुई। वे निराकार निरंजन के भक्त थे। एक बार भारी वर्षा हुई तब किसान अपने खेतों में फसल बोने हेतु हलों को ले जा रहे थे। सामने रास्ते में अजमल जी मिल गये। उसी समय किसान अपने हल बैलों को लेकर अपने घर लौटने लगे तो अजमल जी ने उन्हें रोका और पूछ लिया कि 'तुम ऐसा क्यों कर रहे हो?' तब किसान करबद्ध विनीत भाव से कहने लगे- "अन्नदाता! आप माफ करें, क्योंकि आप हमारे ठाकुर हैं और हम आपकी प्रजा हैं"। किन्तु युगों-युगों से यह परम्परा बनी हुई है कि जिस व्यक्ति के होठों पर मूँछ नहीं, और पुत्र नहीं उस व्यक्ति के सामने मिलने पर फसल नहीं होगी। इस कारण हम लौट रहे हैं। तब अजमल जी ने राजकोष से इतना अन्न तत्काल देने की घोषणा की जितना वे उस समय की फसल में पैदा करते। किन्तु किसानों ने उसे स्वीकार नहीं करते हुए खेतों की ओर प्रस्थान कर फसल बोने की तैयारी में लग गये।

जब यह जानकारी उनकी पत्नी ठकुराइन मैणादे को हुई तो पुत्र प्राप्ति की कामना से द्वारका जाने का निश्चय कर दोनों ही द्वारकाधीश के मंदिर में पहुंच गये और पुजारी से पूछा कि भगवान द्वारकाधीश कहाँ हैं। पुजारी ने भगवान कृष्ण की मूर्ति की तरफ इशारा किया। अजमल लड्डूओं का प्रसाद चढ़ाने गये वहाँ साक्षात् द्वारकाधीश कृष्ण को नहीं देखकर, मूर्ति देखी तो पुजारी की बात पर क्रोधित होकर एक लड्डू मूर्ति पर मारते हुए वे मंदिर के बाहर आ गये। तभी पुजारी ने कहा कि भगवान तो इस समुद्र में हैं 'जाओ कूद जाओ।' इतना कहना हुआ कि अजमल जी समुद्र में कूद गये। वहीं भगवान के दर्शन हुए। भगवान ने राजा की कुशलक्षेम पूछी। तभी अजमल जी ने भगवान कृष्ण से पूछा कि आपने एक आंख पर पट्टी क्यों बांध रखी है? भगवान ने कहा, भक्तराज आते हैं और मेरी मूर्ति पर लड्डू से वार करते हैं। उन्हें ये नहीं मालूम कि मैं तो प्रतिक्षण हर जगह उपस्थित रहता हूँ। तब भावविभोर होकर अजमल जी ने क्षमा याचना की, तभी द्वारिकाधीश ने कहा कि 'मैं स्वयं आपके घर अवतार लूंगा।' पहले मेरी शक्ति का स्वरूप वीरमदेव के नाम से माता मैणादे के गर्भ से अवतरित होगी उसके बाद मेरा आविर्भाव होगा। ध्यान रहे जिस समय मैं आऊँगा पानी के मटके में दूध प्रवाहित होगा और चौक में मेरे पैरों के कुमकुम चिह्न दिखाई देंगे। तब जान लेना कि मैंने अवतार लिया है। वरदान प्राप्ति के बाद अजमल जी घर लौट आये। इस प्रकार बाबा रामदेव जी अवतरित हुए।

बाबा रामदेव ने जहाँ दलितों के दुख दूर किए वहीं समाज सुधारक के रूप में भी महत्वपूर्ण कार्य सम्पादित किये। संत समाज में भी आप अग्रगण्य थे। संत समाज की रुढ़ियों और कुत्सित परम्पराओं को दूर करते हुए राष्ट्र और समाज की उन्नति के लिए सदैव तत्पर रहे। बाबा रामदेव ने संवत 1425 में रुणिजा को बसाया। माता-पिता की अटूट सेवा की। एक दिन जब माता मैणादे ने पिता अजमल जी को कहा कि राजकुमार रामदेव बड़ा हो गया है इसका विवाह शीघ्र करें ताकि हम भी पुत्र वधू को देख सकें। किन्तु जब बाबा रामदेव जन्म लिया था उस समय द्वारकाधीश ने रुकमणी को वचन था दिया कि तेरे साथ विवाह रचाऊँगा। संवत् 1426 में अमरकोट के ठाकुर दलजी सोढा की पुत्री नेतलदे के साथ रामदेव जी का विवाह हुआ जिसे रुकमणि का अवतार माना जाता है।

बाबा रामदेव न केवल देवपुरुष थे अपितु ये धीर-वीर तथा कुशल योद्धा भी थे। उनके कई

समाजोपयोगी चमत्कारों से भक्तजन प्रभावित हुए। उनके चमत्कारों में विशेषतः हैं-

- उफनते दूध को रोकना।
- बाई सुगना के मृत पुत्र को जिन्दा करना।
- व्यापारी के डूबते जहाज को बचाकर जीवन रक्षा करना।
- बणजारे को चमत्कार दिखाते हुए मिश्री को नमक बनाना।
- दलजी सेठ को चोरों द्वारा मार देने पर उसे जिन्दा करना। (इसीलिए दलजी सेठ ने विराठिया गाँव में बाबा रामदेव के भव्य मंदिर का निर्माण कराया।)

बाबा रामदेव धीर-वीर, गंभीर, चिन्तनशील तथा समाजसुधारक होने के साथ ही निरन्जन निराकार के प्रति आस्थावान थे। तत्कालीन मुस्लिम शासकों का प्रजा पर अत्याचार था। कर्मकाण्ड और पाखण्ड तथा अंधविश्वास से सामाजिक वातावरण दूषित हो गया था। तत्कालीन साधु-संतों ने अत्याचारी शासकों की भर्तस्ना करते हुए गुलामी से मुक्त होने के लिए जनमानस को तैयार किया। बाबा रामदेव न केवल सवर्ण जाति में ही पूज्य रहे अपितु दलितों के ह्रदय हार भी बन गये। वे हरिजनों, मेघवालों के घर जाते और जो भी भोजन उनके वहाँ बनता उनके साथ बैठकर ग्रहण करते। नीची जातियों से सम्पर्क रखने तथा अछूतोद्धार के लिए बाबा रामदेव का समर्पण देखकर उस समय का राजपूत समाज कुपित रहता था तथा जातिगत तिरस्कार भी किया करता था। बाबा ने विश्वबंधुत्व का व्यापक प्रचार करते हुए करनी और कथनी में समानता बनाये रखी।

बाबा रामदेव की प्रसिद्धि सुनकर मुस्लिम समुदाय के पाँच पीर मक्का से चलकर रुणिजा पहुंचे। बाबा द्वारा उनका भोजन के आग्रह से स्वागत-सत्कार हुआ। किन्तु पाँचों पीरों ने भोजन करने का अपना बर्तन (कटोरा) मक्का में ही भूल आने का बहाना बनाकर भोजन के लिए मना कर दिया, तो बाबा ने अपना हाथ बढ़ाया और कटोरा ले आये, तो वे बाबा को देखते ही रह गये। पाँचों पीरों ने भोजन किया। बाद में आध्यात्मिक गोष्ठी में बाबा को इन पीरों ने पोरों का पीर घोषित किया और वे पीर मक्का के लिए प्रस्थान कर गये। इस प्रकार -

"रमता रामदेव रुणिचे आया।
परचा दिया जद पीर पद पाया।"

बचपन में बाबा ने एक बार खिलौने वाला घोड़ा लेने की जिद पकड़ ली। राजा अजमलजी खिलौने वाले के पास गये तथा चन्दन और मखमल से घोड़ा बनाने को कहा। खिलौने वाले ने आज्ञा स्वीकार करते हुए खिलौना बनाने हेतु आवश्यकता से अधिक कपड़ा खरीदकर उसमें से कुछ कपड़ा अपनी पत्नी के उपयोग हेतु रख लिया। उसमें से थोड़ा ही कपड़ा काम आया। बालक रामदेव घोड़े पर बैठे ही थे कि घोड़ा बाबा को लेकर आकाश में चला गया। अजमल जी खिलौने वाले को जेल में डालने का आदेश दे बैठे। थोड़े ही समय बाद बाबा रामदेव घोड़े के साथ वापस आये। खिलौने वाले ने अपनी गलती स्वीकार करते हुए राजकोप से बचने के लिए बाबा रामदेव से प्रार्थना की। बाबा ने कृपापूर्वक उसे माफ कर दिया। बाबा रामदेव के लिए कपड़े वाला घोड़ा खास चढ़ावे के रूप मान्य है।

बाबा रामदेव ने जब सामाजिक समरसता के समस्त कार्य सम्पन्न कर दिए तो समाधि लेने की इच्छा प्रकट की तथा स्थान भी निर्धारित कर दिया। संवत् 1515 (ई. सन् 1458) भादवा सुदी ग्यारस को समाधि ली। बाबा ने अपने हाथ में श्रीफल लेकर समस्त उपस्थित बड़े बूढों को प्रणाम करते हुए अंतिम उपदेश देकर समाधि ले ली। प्रतिवर्ष जन्मोत्सव तथा समाधिस्थ होने के उपलक्ष्य में समाधि स्थल पर मेले का आयोजन होने लगा तथा प्रतिमाह शुक्ल पक्ष की दूज को भजन-कीर्तन के साथ रात्रिजागरण की व्यवस्था होने लगी। समाधि में किसी प्रकार का भेदभाव न रहे मैं सदैव भक्तों के साथ रहूँगा। इस प्रकार बाबा रामदेव ने समाधि ली।

शंकरलाल माहेश्वरी
(पूर्व जिला शिक्षा अधिकारी जिला भीलवाड़ा)
पो.-आगूचा-311022, (राज.)
मो. 9413781610

वर्षों पहले रामदेवरा जाना हुआ था। मंदिर में चांदी से निर्मित बाबा रामदेव के मुख की प्रतिमा के दर्शन किए। दूसरे दिन प्रातःकाल 3 बजे मंदिर में जाने का योग हो गया। देखा वहाँ प्रतिमा नहीं लाल पत्थर से निर्मित मजार है जिस पर बड़े-बड़े सुन्दर अक्षर अरबी में लिखे हैं। पुजारी द्वारा मजार को दूध-पानी से गुस्ल दिया गया। इत्र लगाकर उसे भक्तों द्वारा लाई चादरें उढ़ाई गई फिर प्रतिमा लगा कर पूजा आरती की गई। यह मजार देख कर समझ आया कि बाबा रामदेव को रामसा पीर क्यों कहा जाता है। यह शोध का विषय है कि बाबा रामदेव ने जहाँ जीवित समाधि ली थी उस पर वहाँ मजार क्यों है? - सम्पादक

ससि महुँ मेचकताई

बिथुरे नभ मुक्ता हल तारा, निसि सुन्दरी करे सिंगार।
कह प्रभु ससि महूँ मेचकताई, कहहु काह निज निज मति भाई।।

भगवान श्रीराम लक्ष्मण द्वारा बिछाये गये आसन पर बैठे हैं। उनके समीप सुग्रीव, अंगद, विभीषण, हनुमान बैठे हैं और लक्ष्मण श्रीराम के पीछे खड़े हैं। श्रीराम ने आकाश में यत्र-तत्र बिखरे तारों को रात्रि रूपी सुन्दरी के शृंगार उपकरण मोती माना। प्रकृति का अवलोकन करते हुए श्रीराम ने समीप बैठे हुए सदस्यों से पूछा कि आप लोग अपनी अपनी बुद्धि के अनुसार विचार कीजिये कि चन्द्रमा में जो मेचकताई (कालिमा) दिखाई दे रही है, वह कहाँ से आई है?

राम के प्रश्न का उत्तर सर्वप्रथम सुग्रीव ने दिया- 'प्रभु! चन्द्रमा में पृथ्वी की छाया दिखाई दे रही है। व्यक्ति अन्न, धन, या वैभव, सम्पूर्ण सुख पृथ्वी से प्राप्त करता है।' सुग्रीव की पत्नी, उसका धन, वैभव सभी कुछ उसके अग्रज बाली ने छीन लिया था। इसलिये उसको लग रहा है चन्द्रमा की कालिमा पृथ्वी की परछाई मात्र है।

विभीषण ने उत्तर दिया- 'प्रभु! राहू ने चन्द्रमा को ग्रस लिया है इसलिये चन्द्रमा की यह कालिमा घाव है।' विभीषण अपने अग्रज रावण से ही नहीं अपितु अपने भतीजे इन्द्रजीत से भी अपमानित हुए -

(मम पुर बसि तपसिन्ह पर प्रीती, सठ मिलि जाई तिन्हहिं कछु नीती।)

अस कहि कीन्हेसि चरन प्रहारा। अनुजगहे पद बारहि बारा।।

रावण ने उन पर चरण से प्रहार किया तब उन्होंने राम का आश्रय लिया। इसी अपमान के घाव को ध्यान में रखकर विभीषण ने यह कहा।

अविवाहित अंगद ने कहा- 'प्रभु! ब्रह्माजी ने रति का मुख बनाते समय चन्द्रमा का मुख्य तत्व निकाल लिया था जिससे रति का मुख तो अत्यन्त सुन्दर हो गया परन्तु चन्द्रमा के हृदय में घाव हो गया, वही घाव चन्द्रमा के हृदय में वर्तमान में दिखाई दे रहा है जिससे आकाश की काली छाया इसमें दृष्टिगोचर हो रही है।'

हनुमान ने कहा- 'प्रभु! चन्द्रमा आपका प्रिय दास है। आपकी श्यामल सुन्दर मूरत चन्द्रमा के हृदय में बसती है, इसी श्यामलता की झलक चन्द्रमा में है, कालिमा नहीं, इसी हनुमान का कथन प्रेम से लबालब भरा है।

श्रीराम ने कहा - 'चन्द्रमा और विष सगे भाई हैं। चन्द्रमा ने अपने प्रिय भाई को अपने हृदय में स्थान दे रखा है इसलिये चन्द्रमा अपने विषयुक्त किरण समूह को संसार में फैलाकर वियोगी नर-नारियों को जलाता रहता है।' राम और सीता का वियोग हो गया है। वियोग के कारण श्रीराम को चन्द्रमा में काला विष दिखाई पड़ रहा है। सच है जिसकी जैसी भावना है वैसा ही सबकुछ नजर आता है।

डॉ. कृष्णा माहेश्वरी
प्रज्ञा, बी-186, आर के नगर, भीलवाड़ा
(राज.), मो. 9950852292

स्वत्वाधिकारी भारतीय विद्या मन्दिर, कोलकाता के लिए सचिव शंकरलाल सोमानी द्वारा कल्याणी प्रिंटर्स, अलखसागर रोड, बीकानेर के लिए कंप्यूटर-एन-मीडिया, 25ए, सी.आर. एवेन्यू, कोलकाता-72 में मुद्रित एवं भारतीय विद्या मंदिर से प्रकाशित। संपादक-डॉ. बाबूलाल शर्मा।

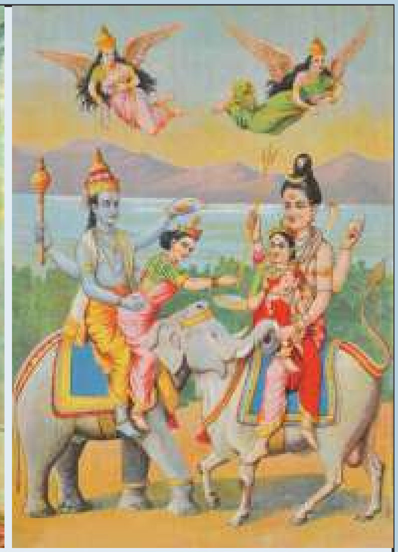

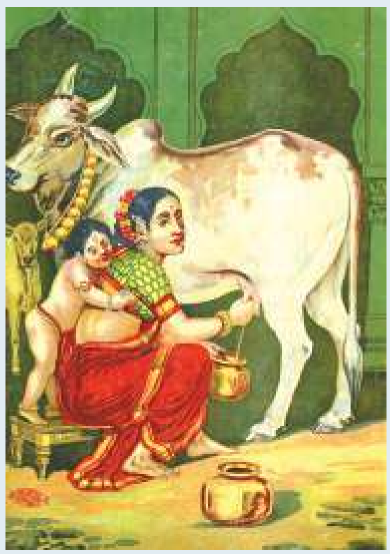

VAICHARIKI Bi-Monthly • ₹50/- March-April 2022 R.N.I. No. 22298/71

From
BHARATIYA VIDYA MANDIR
12/1, Nellie Sengupta Sarani
Kolkata - 700087

TO